विज्ञान

विज्ञान परिषद प्रयाग का मुख-पत्र

भाग १०४

संयुक्तांक

अगस्त १९६७

वार्षिक ४.००

एक प्रति ४० पैसे
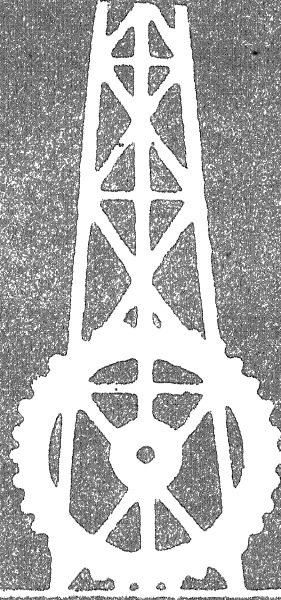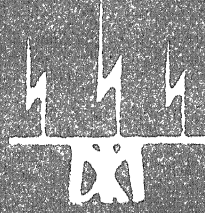
सम्पादक—डा० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजनात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसविन्तीति। तै० उ० ३।५

भाग १०४ | आषाढ़-श्रावण २०२३ विक्र०, १८८६ शक जुलाई-अगस्त १९६७ | संख्या ७-८

विज्ञान का विराट स्वरूप

डा० शिवगोपाल मिश्र

मनुष्य केवल पेट भर कर जीवित रहने के लिये पैदा नहीं हुआ। उसके अन्तर में सदैव एक ऐसी दैवी प्रेरणा कार्य करती रहती है जिसके कारण वह शान्त नहीं बैठ पाता। वह कुछ न कुछ करने के लिये बाध्य होता रहता है। ऐसा ही साहसिक प्रयास 'विज्ञान' को जन्म देता है। इसीलिए 'विज्ञान' संगीत या कला से असमान होकर भी समान है क्योंकि इसका भी स्रोत वही है जो उनका है। अन्तर केवल इतना है कि विज्ञान में विचारों का अत्यन्त संयत रूप रहता है और उसको तर्क पर अटूट विश्वास होता है।

बहुत दिनों तक लोगों की यही धारणा रही है कि 'विज्ञान' कुछ चुने भाग्यशाली लोगों का विलास है किन्तु नये-नये आविष्कारों के फलस्वरूप तथा अन्तरिक्ष युग के सूत्रपात से लोगों के मस्तिष्कों में परिवर्तन हुये हैं। अब विज्ञान उन सबों की चीज है जिनके पास समय, शिक्षा तथा साधन उपलब्ध हैं। अब तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि विज्ञान प्रत्येक व्यक्ति का है। किन्तु जो लोग यह सोचते हैं कि विज्ञान ने एकदम उन्नति कर ली है, वे शायद ठीक नहीं हैं। विज्ञान तो लगातार कदम भरता आया है। कभी-कभी ही इसकी प्रगति विस्मयकारी प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, पृथ्वी से ऊपर अन्तरिक्ष में मानव की सफल यात्रा (अक्टूबर ४, १९५७) सबसे बड़ी घटना कही जा सकती है। किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस दिशा में राबर्ट गोडार्ड द्वारा १९२० में ही प्रयास प्रारम्भ हो चुका था। यह आन्तरिक प्रेरणा नहीं तो क्या थी? यह दुस्साहस करने की प्रवृत्ति नहीं तो क्या थी? यही वैज्ञानिक प्रगति है। हमारे वैज्ञानिक द्रष्टाओं की धारणा रही है कि यदि मानव मस्तिष्क मुक्त रहे, उस पर निरोध न रखा जाय तो वह उन्नतिशील पथ पर अबाध-गति से अग्रसर हो सकता है। स्वतन्त्र राष्ट्रों की चमत्कारिक वैज्ञानिक प्रगति का रहस्य यही है। हमारे देखते ही देखते (हमारे ही जीवनकाल में) कम से कम चार ऐसे युगान्तकारी आविष्कार हुये हैं जिनसे विज्ञान की अबाधगति की सूचना मिलती है। ये हैं—

(१) समानव अन्तरिक्ष यात्रा

(२) आटोमोबाइल उद्योग का विस्तार

(३) टेलीविजन, ट्रांजिस्टर, छपाई के संयंत्र, भोज्य-पदार्थ तैयार करने के संयंत्रों आदि का विकास

(४) वायु अनुकूलन, कीटों पर नियन्त्रण आदि।

यही नहीं, हमने धरती से आकाश की ओर झाँकने का प्रयास किया है—अन्तरिक्ष में कोटि-कोटि तारे, तारों में जीवन की सम्भावना, चन्द्रमा या शुक्र के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारियाँ—ये सब हमारी जिज्ञासा को कुछ अंशों तक शान्त कर सकी हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों गुत्थियाँ सुलझी हैं, कुछ नवीन समस्यायें—प्रश्नचिन्ह बनकर हमारे सामने आई हैं।

विज्ञान के दो पक्ष हैं। एक पक्ष से मनुष्य वरदान पाता है, उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति होती है और दूसरे पक्ष से उसका रौद्र रूप झलकता है—ऐसा ज्ञात होता है मानों वह सर्वनाश कर देगा। एक ओर जहाँ शहरों में ऐशो-आराम के साधनों में वृद्धि हुई है वहीं तज्जनित कठिनाइयाँ भी समक्ष आई हैं। उदाहरणार्थ यातायात के साधनों के कारण इतना कोलाहल एवं इतना धुँआ उत्पन्न होता है कि साँस लेना दूभर हो रहा है। इसी प्रकार नदियों का जल दूषित हो चुका है। जहाँ परमाणु ऊर्जा ने चिकित्सा, शक्ति एवं उद्योग के लिये नये द्वार खोल दिये हैं वहीं समग्र मानवता नाभिकीय युद्ध की कल्पना से सिहर उठी है। ऐसी है विज्ञान की दुमुँही माया। किन्तु विज्ञान का संहारकारी पक्ष उसकी विशिष्टता न होकर मानव मस्तिष्क की उपज अथवा प्रक्रिया है। संहार या हिंसा की वृत्ति के लिये ज्ञान नहीं अपितु मनुष्य उत्तरदायी है।

आज के विज्ञान ने न केवल विकृत अंगों को पुनः स्थापित करने की विधि निकाल ली है वरन् कृत्रिम विधि से जीव उत्पन्न करके महापुरुषों के ही समान प्रतिभाशाली संततियों को अक्षुण्ण करने की विधि ढूँढ निकाली है। इसी प्रकार मौसम विज्ञान के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई है जिसके फलस्वरूप जब और जहाँ चाहें वर्षा की जा सकती है। किन्तु इस ज्ञान से लाभ उठाकर प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र एक दूसरे का अहित कर सकते हैं।

विज्ञान की कुछ विशेषताओं का उल्लेख आगे किया जावेगा।

(१) विज्ञान शतत परिवर्तनशील है। यह बड़ी ही निर्दयता के साथ अपने ही बनाये नियमों में संशोधन करता रहता है। उदाहरणार्थ आकर्षण के नियम को लें। अरस्तू से लेकर गैलीलियो और न्यूटन से लेकर आइंस्टीन—इन सबों ने इस नियम में संशोधन एवं परिवर्धन किये हैं। किसी भी वैज्ञानिक के जीवन का सबसे बड़ा आनन्द है किसी नियम की कमियों को ज्ञात करके उसे अधिकाधिक प्रामाणिक बनाना। फलतः विज्ञान के अन्तर्गत कोई स्थिरता नहीं है। वह पुराने मूल्यों को बदलने में तत्पर रहता है। इससे लोगों की यह धारणा होने लगी है कि कोई भी आविष्कार अधिक काल तक टिकने वाला नहीं होगा।

(२) विज्ञान को ईश्वर पर विश्वास नहीं है। किन्तु सामान्य जनता तो देवी-देवताओं पर श्रद्धा रखती आई है। उदाहरणार्थ सूर्य को देवता माना जाता है किन्तु जब विज्ञान की खोजों द्वारा यह सिद्ध हो गया कि उसमें भी कलंक (धब्बे) है तो लोगों को सूर्य की पूर्णता पर सन्देह होने लगा। इसी प्रकार साहित्य एवं संस्कृति से सम्बन्धित अनेकानेक कथनों के सम्बन्ध में सन्देह और भ्रम उत्पन्न होने लगा है। उदाहरणार्थ पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेकानेक पौराणिक आख्यान अब असत्य सिद्ध हो चुके हैं। यही नहीं, मशीनों के सूत्रपात से गुरू और शिष्य तथा मालिक और नौकर के सम्बन्धों में भी अन्तर आ गया है।

(३) **वैज्ञानिक भी मतैक्य नहीं हैं**—जब न्यूटन के सिद्धान्त का संशोधन आइंस्टीन द्वारा किया गया तो जन साधारण में यह प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी कि आखिर दो वैज्ञानिक एकमत क्यों नहीं। इसका कारण यह है कि सामान्य जन यह सोचते हैं कि वैज्ञानिक नियम तो पूर्णतः सत्य होते हैं वे मनुष्य द्वारा बदले नहीं जा सकते। वे कभी यह सोच ही नहीं सकते कि वैज्ञानिक भी परस्पर असहमति प्रकट करते हैं। फलतः कुछ ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे जन-साधारण को इस दिशा में परिचित कराया जा सके।

(४) **सामाजिक रीति रिवाजों में आमूल परिवर्तन**—वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर बहुत से नियम (कानून) तथा मान्यतायें बदली हैं। उदाहरणार्थ असंतुलित मस्तिष्क एवं मानसिक रोगियों के सम्बन्ध में जो खोजें हुई हैं उनसे तत्सम्बन्धी कानूनों में परिवर्तन अवश्यम्भावी हो गये हैं। शराब या नशीली वस्तुओं के प्रयोग एवं उनके आयात-निर्यात पर भी प्रभाव पड़ा है। बच्चों के

विकास के सम्बन्ध में प्राचीन मान्यताओं में संशोधन आवश्यक हो गया है।

(५) वैयक्तिक सम्पत्ति एवं राष्ट्रीय सीमाओं से सम्बन्धित धारणायें बदली हैं। अन्तरिक्ष युग में पदार्पण के साथ ही सबके समक्ष यह समस्या आ खड़ी हुई है कि कितनी ऊँचाई तक कोई यान उड़े तो उसे उस देश की अनुमति लेनी पड़ेगी और कितनी ऊँचाई पर नहीं? नदियों का पानी राष्ट्रों में किस प्रकार वितरित हो? किस ऊँचाई तक के बादलों को कोई राष्ट्र बरसा सकता है? आणविक विस्फोटों के द्वारा वायु को दूषित करना कहाँ तक वैध है? वान एलेन पट्टियों के कृत्रिम उत्पादन से किस राष्ट्र के रेडियो बन्द हो जावेंगे? वायुमण्डल में रेडियोआयोडीन उत्पन्न करना किस राष्ट्र का कार्य है? आदि आदि।

(६) **प्राकृतिक रम्य स्थलों का विनष्टीकरण**—नदी या समुद्र के किनारे बैठकर शीतल सुगन्धित वायु का आनन्द लेना कितना लुभावना प्रतीत होता है किन्तु जरा कल्पना कीजिये कि बड़े-बड़े शहरों की दूषित वायु ने दूर-दूर तक की वायु को किस प्रकार विषाक्त बना दिया है कि मनुष्य तो मनुष्य, वनस्पति को भी साँस लेना दूभर हो गया है। संदूषित नदियाँ, बन्दरगाह, समुद्री किनारे, सभी मिलकर हमारे भोजन को संदूषित करके रोग फैलाते हैं और घर के बाहर के रम्य स्थलों की सुन्दरता को हर लेते हैं।

यही कारण हैं कि आनन्दवादी लोग विज्ञान पर चारित्रिक नियन्त्रण रखने के पक्ष में हैं।

(७) **विज्ञान कुछ ही प्रतिभाशाली पुरुषों की मुट्ठी में है**—जन साधारण का यह सोचना सार्थक है कि विज्ञान का सारा कार्य-कलाप ऐसे व्यक्तियों के द्वारा संचालित होता है कि जिनकी अपनी विशेष भाषा है जो अत्यन्त सांकेतिक एवं गणितात्मक है। वे ऐसे शब्दों का व्यवहार करते हैं जिनसे लोग परिचित नहीं। वे सत्य का समर्थन करते हैं किन्तु पूर्णतः सत्य नहीं बोलते।

फिर वैज्ञानिकों का मनोरंजन भी विचित्र ढंग का होता है। वे न जाने कितना धन अपनी शोधों के लिए खर्च करते रहते है जबकि गरीब जनता पैसे-पैसे के लिए तरसती रहती है। यह तमाम गरीब जनता का शोषण नहीं तो और क्या है?

उनकी रुचियाँ भी विचित्र होती हैं। वे किसी एक विचारधारा के पोषक होकर दूसरे की बात नहीं सुनते। वे ऐसा क्यों करते हैं यह सामान्यजन की समझ के परे है। यही कारण है कि वह वैज्ञानिकों को 'पागल' 'दायित्वहीन' कहता है।

यह जानकर दुख होता है कि अन्ततः वैज्ञानिक भी तो मनुष्य हैं। उनमें भी दुर्बलतायें एवं महत्वाकांक्षायें हैं और जब कि सारा विश्व विज्ञान की भाषा के सूत्र में एक होना चाहता है तो वैज्ञानिकों एवं विज्ञान के प्रति लोगों में ऐसी दुर्भावना व्याप्त हो रही है। किन्तु बिडम्बना तो यह है कि सामाजिक विज्ञान भी इतना ही सन्देहास्पद बन गया है।

(८) **विज्ञान के कारण मनुष्य में घोर असन्तोष उत्पन्न हुआ है**—

आज जो है उसके प्रति असन्तोष का कारण विज्ञान ही है। जो भूखे पेट हैं और जिनके शरीर पर वस्त्र नहीं हैं उनके हृदयों में विद्रोह की ज्वाला भड़काने वाला विज्ञान ही है।

हमें आवश्यकता है शान्त चित्त की, आराम की स्वथ्य शरीर की और ऐसी भाषा की जो सबों को बोधगम्य हो। फैक्टरी बनाने या जीवन-स्तर उठा देने मात्र से मानव सुखी नहीं रह सकता। इस युग में परम्परागत धार्मिक विचारों पर टिककर चल पाना कठिन है। हमें अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ऐसा दर्शन विकसित करना है जो अच्छा जीवन एवं अच्छा समाज का निर्माण कर सके—बदलते हुये युग की माँगों की पूर्ति कर सके। हम प्राचीन अच्छी परम्पराओं को सुरक्षित रखें किन्तु नूतन परम्पराओं को भी जन्म दें। यदि चतुरता से विज्ञान की समस्त शक्तियों का उपयोग किया जाय तो ऐसी बात नहीं कि सफलता न प्राप्त हो सके। किन्तु इसके पहले कि हम जो कुछ बनना चाहते हैं उसके सम्बन्ध में समझ लें कि हमें क्या होना है।

भूमि एवं जल-संरक्षण के आयोजन में जंगलों का महत्व

● राम प्रसाद एवं सूरज भान

जंगलों का हमारे दैनिक जीवन में विशेष महत्व है। जंगलों से हमको, हमारे पशुओं को एवं फसलों को न केवल संरक्षण ही प्राप्त होता है बल्कि इनसे हमारी भोजन, मनोरंजन तथा अन्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति होती है। जंगल कृषि बानिकी के रूप में लगाए जाने पर भूमि को जल द्वारा कटाव से बचाते हैं और पेड़ों को फार्म के चारों तरफ वायु-रक्षक पट्टिकाओं के रूप में लगाए जाने पर वायु-क्षरण से भूमि का कटाव रोकते हैं तथा गर्म हवा से फसल की रक्षा करते हैं। पेड़ों को वायुरक्षक पट्टिकाओं के रूप में के घरों चारों तरफ तथा बगीचों के चारों तरफ भी लगाते हैं जिससे गर्मियों में घर लू से बच सकें तथा उड़ते बालू से पटने से बच जायँ। इन पट्टिकाओं के लगाने से बागों में मधु-मक्खियाँ सुचारु रूप से कार्य करती हैं जिससे फलदार बृक्षों में अच्छी तरह से गर्भाधान होता रहता है। जङ्गलों का उपयोग किसी स्थान विशेष को आकर्षक बनाने में भी होता है जैसे फार्म पर लगाए हुए जंगल, पशुओं के चारे, किसान की रोजमर्रा की वस्तुओं के बनाने, इंधन तथा औद्योगिक कार्य में भी काम में आते हैं, जिससे किसान की आय में वृद्धि होती है।

भारतवर्ष में जंगलों का कुल क्षेत्रफल लगभग ७३२,५५६ वर्ग किलोमीटर है जो देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र का लगभग २२·३ प्रतिशत है। जंगलों का यह क्षेत्रफल एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में अलग-अलग है जो कि राजस्थान में करीब १०·१ प्रतिशत से लेकर त्रिपुरा में ८५·५ प्रतिशत तक पाया जाता है। इन जंगलों में बहुत प्रकार की झाड़ियाँ तथा पेड़ पाये जाते हैं, जो भूमि को अपनी पत्तियों से उर्वर बनाते हैं, जल संरक्षण करते हैं तथा भूमि-कटाव को रोकते हैं। इसके अतिरिक्त मकान की लकड़ियों, इंधन, पशुओं के चारे तथा औद्योगिक कार्यों के लिए भी काम आते हैं परन्तु इन सबकी माँग और पूर्ति एक राज्य से दूसरे राज्य में भिन्न-भिन्न होती है। ऐसा अनुमान है कि देश में १६७५ के अन्त तक लगभग १००° लाख टन ईंधन तथा औद्योगिक लकड़ी की आवश्यकता पड़ेगी जो शायद केवल सरकार द्वारा नियमित वन लगाने से नहीं पूरी की जा सकती है। राष्ट्रीय बन-नीति के अनुसार लगभग ३३ प्रतिशत भूमि में जङ्गल लगाना होगा जिसमें ६० प्रतिशत पहाड़ी भागों तथा २० प्रतिशत मैदानी भागों की भूमि जंगलों के अन्तर्गत होनी आवश्यक है। इसके लिये प्रत्येक किसान को जंगल लगाने के लिये उत्साहित करना पड़ेगा। फार्म के वे भाग जो काफी कटे-फटे हैं (उत्तर प्रदेश में भूमि की उपयोग-योग्यता श्रेणी ई तथा अन्य भागों में ७ एवं ८ वर्ग की भूमि) जहाँ फसलें उगाना लाभदाई नहीं है, तथा जहाँ घास लगाने से या भूमि संरक्षण के अन्य विधियों के अपनाने से भूमि कटाव नहीं रोका जा सकता है, वहाँ उचित पेड़ों तथा झाड़ियों के जंगल लगाकर सुधारे जा सकते हैं। राजस्थान का एक बहुत बड़ा भू-भाग जो करीब २,०७००० वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैला है, रेगिस्तान है, और गर्मियों में वायु-क्षरण के प्रकोप से ग्रसित रहता है। इसका काफी भाग खेती के लिए अनुपयुक्त है अतः इस पर जंगल लगाना ही श्रेयस्कर है

जंगलों से लाभ :—मुख्य रूप से जंगलों को ३ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लगाया जाता है।

(१) सुरक्षात्मक दृष्टि से:—इसके अन्तर्गत् भूमि एवं जल-संरक्षण तथा जलवायु पर नियंत्रण सम्मिलित हैं।

(२) **उत्पादन के लिए** :—जिसमें जंगल की उपजों, चारे, ईंधन तथा अन्य औद्योगिक कार्यों का विवरण आता है।

(३) **मनोरंजन के लिए**—खेल-कूद, सैंक्चुरी, शिलाकार इत्यादि के लिए।

सुरक्षात्मक दृष्टि से—(१) जंगलों से भूमि एवं जल संरक्षण :—फार्म की कटी-फटी (ई अथवा वर्ग ७ या ८) भूमि पर जंगल विभिन्न प्रकार की घासों, झाड़ियों तथा पेड़ों को एक समूह में लगाकर जंगल का रूप दे देते हैं तो यह उस भाग, जिस पर लगाए गए हैं, की भूमि कटाव से रक्षा करते हैं साथ ही साथ फार्म के अन्य खेती वाले भाग को भी बचाते हैं। कटी-फटी भूमि पर जब पानी बेरोक-टोक बहने दिया जाता है तो कटाव अपना भयंकर रूप धारण कर लेता है और फालतू पानी के लगातार बहने से वह खड्ड-खर्रोहों में बदल जाता है जिसके परिणामस्वरूप ऊपर वाले अच्छे खेत भी इन्हीं खड्ड-खर्रोहों से मिल जाते हैं और इस तरह सम्पूर्ण फार्म खेती के लिए सर्वथा बेकार हो जाता है। इसके विपरीत जंगल लगाने से कटी-फटी भूमि फिर और ज्यादा नहीं कटने पाती है, बल्कि उसका धीरे-धीरे सुधार होता रहता है। पेड़ अधिक वर्षा के पानी को या तो गिरते समय ही भाप बनाकर या पत्तियों द्वारा उत्स्वेदन की क्रिया में उड़ा देते हैं। जो पानी जमीन पर धीरे-धीरे पेड़ों के सहारे से जमीन तक पहुँचता है उसकी शक्ति इतनी कम हो जाती है कि वह फिर भूमि का कटाव नहीं कर पाता बल्कि जमीन में तीव्र गति से प्रवेश कर जाता है। इन पेड़ों से पत्तियाँ झड़कर बराबर जमीन पर गिरती रहती हैं जो सड़कर मोटी कार्बनिक तह बना लेती हैं और पानी के जमीन में प्रवेश करने में मदद पहुँचाती हैं। गिरी हुई पत्तियों के लगातार सड़ने-गलने से भूमि की भौतिक दशा में काफी सुधार होता है तथा भूमि संरचना के सुधार होने से पानी के जमीन में प्रवेश करने में और भी अधिक मदद मिलती है। इस तरह से जो जल फालतू होकर बह जाता है वह जंगलों के लगाने से भूमि में प्रवेश करके अधिक दिनों तक यक है रहता है और भविष्य में पेड़-पौधों के काम आता।

जब कुछ किस्म के पेड़ फार्म को दल-दली भूमि हो लगाए जाते हैं तो ये दल-दल को भी सुखाकर अच्छे खेतों में बदल देते हैं। प्रयोगों द्वारा ऐसा ज्ञात हुआ है कि १ पौण्ड शुष्क पदार्थ बनाने के लिए पेड़ को करीब ३०० पौण्ड जल की आवश्यकता होती है। इस तरह से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि एक जंगल जिसका क्षेत्रफल (लम्बाई, चौड़ाई तथा पेड़ों की औसत उँचाई) यदि १५० घनफुट हो तो यह लगभग १००० टन पानी जमीन से खींचेगा और उसे उत्सेवदन की क्रिया द्वारा उड़ा देगा। ऐसा देखा गया है कि बबूल की एक जाति (अकेसिया मालीसिमा) द्वारा लगभग १०० से० मी० वर्षा के जल को नैटाल ऐसे मुल्कों के औसत ताप में उत्सेवदन क्रिया द्वारा उड़ा सकता है। आस्ट्रेलिया में यूक्लिप्टस सौलिगना तथा यू० रोवस्टा एवं बबूल की मालीसिमा तथा डेकरेन्स जातियाँ वहाँ की दलदल भूमि को सुखाने के लिए लगाए जाती हैं। इसी तरह से कुछ पेड़, जैसे बबूल, ढाक, जामुन इत्यादि जब ऊसर भूमि में लगाए जाते हैं तो वे उनका सुधार करते हैं।

वायु-क्षरण की रोक-थाम—वायु-क्षरण के लगातार होते रहने से भूमि की उर्वरा शक्ति का ह्रास होता रहता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि रेगिस्तानी इलाकों में जब तेज हवा नग्न भूमि पर बहती है तो प्रति वर्ष लगभग १०-१५ टन से भी अधिक मिट्टी प्रति हैक्टेयर वायु-क्षरण द्वारा उड़ जाती है जिससे पास वाले हरे-भरे खेतों की फ़सल पट कर चौपट हो जाती है। भूमि के महीन कण जो सबसे अधिक उर्वर होते हैं हल्के होने के कारण आसानी से वायु द्वारा उड़ा लिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त बालू या रेत के भारी कण जो वायु द्वारा नहीं उड़ाए जा सकते हैं वायु-गति से जमीन पर ढुलकते-ढुलकते नष्ट होते रहते हैं। ये जब अपने रास्ते में किसी तारबन्दी, मेंड़ या अन्य अवरोधों से टकराते हैं अथवा जब वायु-गति कुछ कम होती है तो वहीं पर जमते रहते हैं और बाद

के बड़े-बड़े टीलों में बदल जाते हैं। संयुक्त अमेरिका में किए गए प्रयोगों से पता चला है कि वायु-क्षरण से ६० प्रतिशत मिट्टी भूमि के धरातल से ३० से०मी० से भी कम ऊँचाई पर उड़ कर नष्ट होता है। इस तरह से यह पता चलता है कि वायु की यह तीव्र गति जो भूमि से होकर बहती है, वायु-कणों को उठाने और उड़ाने की महान शक्ति रखती है। यदि हम वायु की इस बेरोक-टोक गति में कोई अवरोध पैदा कर सकें तो इससे वायु-गति कम किया जा सकता है जिससे वायु-क्षरण पर नियंत्रण हो सकता है। भूमि को वायु-क्षरण से बचाने का सबसे अच्छा उपाय पेड़ों को रक्षा-पट्टिकाओं के रूप में फार्म के चारों तरफ लगाने से हो सकता है।

ये रक्षा पट्टिकाएँ ३ से ५ कतारों की घने-घने पेड़ों तथा झाड़ियों को लगाकर बनाई जाती हैं जो वायु-गति को कम कर देती हैं जिसके परिणाम-स्वरूप न तो वायु भूमि कणों को जमीन से ऊपर उठा ही पाती है और न उन्हें उड़ा ही पाती है। एक अच्छे खासे आयोजित पेड़ों की रक्षा-पट्टिका के लगाने से वायु-क्षरण करीब-करीब बिल्कुल ही नियंत्रित हो जाता है और तब मृदा ह्रास कम होकर एक वर्ष में प्रति-हेक्टेयर १ टन से ज्यादा नहीं हो पाता है। इन रक्षा-पट्टिकाओं के आयोजन में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इसमें लगाए जाने वाले पेड़ काफी घनी टहनियों के हों जिसमें नीचे का भाग खुला न रहे। एक आदर्श रक्षा-पट्टिका के भूमि पर रक्षा का प्रभाव इसके अग्रभाग में पेड़ों की ऊँचाई की २-५ गुना दूरी तक पार्श्व भाग में ऊँचाई की २० गुना दूरी तक रहता है। इन पेड़ों की समय-समय पर काट-छाँट करते रहने से इनसे ईंधन, चारा रोजमर्रा के कृषि औजारों के बेंट बनाने के काम की लकड़ी भी प्राप्त होती रहती है।

(२) जंगलों का जलवायु तथा फसलों की पैदावार पर प्रभाव :—जंगल वास्तव में कृषि का एक आवश्यक साथी होता है और इन दोनों का अटूट सम्बन्ध है। यदि किसी किसान से यह पूछा जाय कि वह अपने फार्म पर कौन-कौन से वृक्ष लगाना पसन्द करेगा तो १० में ६ किसानों का एक ही उत्तर होगा कि साए के लिए तथा रोजमर्रा काम में आने वाली छोटी-मोटी जरूरत की लकड़ियों की आवश्यकता पूर्ति करने वाले पेड़ लगाएँगे। यह साया शब्द हम अपनी भाषा में जलवायु के अनिच्छित प्रभाव को कम करने से लेते हैं जैसे अधिक ताप या अधिक पाले को कम करना, या उनसे बचने, अधिक वर्षा के जल का सदुपयोग, या कम वर्षा वाले क्षेत्र में अधिक वर्षा को चाहने अथवा वातावरण में अनुकूल आर्द्रता से लगाते हैं। रात को जंगल के अन्दर की वायु खुले स्थानों की वायु से गर्म होती है। यह गर्मी का असर जब पास वाले खेतों तक फैलता है तो पाले का असर खेत पर नहीं पड़ पाता है। दिन के समय पेड़ों से अधिक उत्स्वेदन होते रहने से वातावरण की आर्द्रता बढ़ जाती है। इस प्रकार से जब जलवायु फार्म के जंगल वाले भागों से बहती है तो यह ठन्डी हो जाती है और फसलों को अधिक ताप के प्रभाव से बचाती है। रात के समय यह हवा खेतों में ओस लाने में मदद करती है जिससे कि फसल को काफी फायदा पहुँचता है और पैदावार में बृद्धि हो जाती है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि पेड़ों को रक्षा-पट्टिकाओं के रूप में लगाया जाय तो फसलों को लू से अच्छी तरह से बचाया जा सकता है। इन पट्टिकाओं की ऊँचाई का ५-१० गुना दूरी तक खेत लू से सुरक्षित रह सकते हैं। ये पट्टिकाएँ रेगिस्तानी जलवायु के प्रभाव को कम करने में काफी सफल होती हैं। और इस तरह से इनसे सुरक्षित खेतों से भूमि की नमी का ह्रास कम होता है, उत्स्वेदन थोड़ा कम हो जाता है, और आर्द्रता कुछ बँट जाती है जिससे कि फसल की बढ़वार अच्छी हो जाने से पैदावार में १०-१२ प्रतिशत तक की बृद्धि हो जाती है। ये रक्षा-पट्टिकाएँ खेतों की फसलों की तो रक्षा करती ही है साथ ही साथ किसान और उसके जानवरों की भी अधिक ताप या सर्दी से रक्षा करती हैं।

ताप के अलावा जंगल लगाने से वर्षा भी अधिक होती है, ऐसा विद्वानों का मत है। वास्तव में यदि

यह बात अक्षरशः सत्य नहीं है तो कम से कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि यदि सब किसान अपने फार्म की बेकार भूमि पर जंगल लगा लें या रेगिस्तानी इलाके के काफी भू-भाग पर जंगल लगा दिया जाय तो वर्षा के दिनों की संख्या अवश्य बढ़ जायगी। डा० बोलकर के नीलगिरि पर्वत पर लिए गए आंकड़े इस तथ्य को पूर्ण रूप से सिद्ध करते हैं।

सारणी १ : जंगल तथा वर्षा के दिनों की मात्रा (जंगल लगा देने से)

(जून, जुलाई और अगस्त के महीने को छोड़कर)

समय	वर्षा के दिनों की संख्या
१८७०-७४	३७६
१८८६-९०	४१६
१९०२-१९०६	४६७
१९१८-२२	४८१

उपर्युक्त आँकड़ों से यह सिद्ध हो जाता है कि जंगल लगाने से वर्षा के दिनों में बृद्धि होती है।

(३) खेत की पैदावार तथा जंगल—जंगल मनुष्य की तमाम जरूरतों को पूरा करके एक दूसरे तरह से भी खेत की पैदावार बढ़ा सकते हैं वह है गोबर की खाद। लकड़ी की कमी से किसान गोबर को, जो खेत में खाद के रूप में डालकर पैदावार बढ़ा सकता है, चूल्हे में जला देता है। जैसा कि सारणी २ से विदित होता है कि पूरे भारतवर्ष की कुल ईंधन की खपत का लगभग ५०% पशुओं के गोबर से पूरा किया जाता है। यदि इस गोबर को जलाने के बजाय खेत में खाद बनाकर डाला जाय तो शायद इतनी पैदावार हो जाए कि देश खाद्य निर्भर होकर दूसरे देशों को निर्यात भी कर सके।

सारणी २ : ईंधन की खपत (१० लाख टन कोयले के बराबर)

लकड़ी—जिसका हिसाब है	५
—जिसका हिसाब नहीं है	२५
पशुओं का गोबर	५०
फार्म अवशेष	४०
अन्य	बहुत ही कम

इस गोबर को बचाने के लिये यह आवश्यक है कि फार्मों पर कुछ ऐसी भूमि जो खेती योग्य न हो जंगल लगाया जाय। खाली भूमि पर भी पेड़ लगाने से ईंधन की समस्या हल हो सकती है।

उत्पादन की दृष्टि से:—औद्योगिक तथा इमारती लकड़ी, कार्डबोर्ड, प्लाईवुड, माचिस, खेल के सामान, सुरक्षा, रेल की सीट, तेल, वार्निस ईंधन, चारा, कार्क, कागज इत्यादि के रुप में जंगलों की उपज से किसानों की आय में वृद्धि होती है।

मनोरंजन के लिए—जंगल पुराने समय में राजा-महाराजों द्वारा शिकार खेलने के लिए लगाए जाते थे। देश की उन्नति में जंगली जानवरों की सुरक्षा तथा मनुष्य के मनोरंजन के लिए भी जंगल लगाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

फार्म पर जंगल लगाने में कुछ ध्यान देने योग्य बातें—कृषि वानिकी की स्थापना के पहले यह जानना आवश्यक है कि फार्म या घरेलू आवश्यकता जंगल की कितनी है और जंगल किस तरह का होना चाहिये। मुख्यतः फार्म पर जंगल लगाना, उसका क्षेत्रफल, कौन सी जाति के पेड़, कितने-कितने लगाए जायँ इत्यादि चीजें किसान की ईंधन की आवश्यकता, चारे की आवश्यकता, छोटी-मोटी इमारती तथा घरेलू लकड़ी, रक्षा, साया, जमीन की उपलब्धता तथा किस प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं, इत्यादि बातों पर निर्भर करती है। अतः फार्म पर जंगल लगाने में मुख्य बातें जो ध्यान में रखनी चाहिये वह यह है कि किसान के फसलोत्पादन, पशु पालन तथा जंगल में एक सामान्य सन्तुलन हमेशा बना रहे और एक दूसरे से लाभान्वित भी हों।

पहाड़ियों पर जहाँ अधिक जमीन कटी-फटी होने से फार्म की बहुत थोड़ी जमीन पर ही खेती की जा सकती है वहाँ पेड़ समूह में, जंगल के रूप में लगाये जाँय। पहाड़ियों के ढालों तथा पूरे जल-समेट क्षेत्र में वृक्ष लगाए जाने चाहिये। रेगिस्तानी इलाकों में वायु-क्षरण की रोकथाम के लिये वृक्ष कतारों में रक्षा

पट्टियों के रूप में लगाये जाने चाहिए। नदियों के दो आब या अन्य अधिक जनसंख्या वाली उर्वर भूमि जहाँ पर जमीन की कमी है मेंड़ों के सहारे कम दूर जाने वाली जड़ों वाले पेड़, कुओं, तालाबों तथा अन्य खाली जगहों पर लगाए जाने चाहिए। सामूहिक चारागाहों में चारे वाले पेड़ दूर-दूर लगाए जाने चाहये जिससे छुटी जगह में घासें उग सकें। इससे संरक्षण भी होगा साथ ही साथ उत्पादन भी बढ़ेगा।

कौन पेड़ कहाँ लगाएं—पेड़ों की जातियों के चुनाव में इस बात का ध्यान होना चाहिए कि वे किसान की तमाम आवश्यकताओं को पूरा करने के पहले उक्त भूमि एवं जलवायु की दशा में अच्छी तरह से लग जाँयगी अथवा नहीं। वैसे यह सदैव अच्छा होगा कि पेड़ की वे जातियाँ जो जलवायु की किसी कठिनता को सहन कर सकती हों, जिनकी जड़ें गहराई में जाती हों, तना सीधा और सुडौल हो, ऊपरी भाग कम छाया वाला हो जिससे फसलों को छाए से नुकसान न हो तथा वे स्वदेशी हों लगाना श्रेयकर है। ऐसे पेड़ खेतों से प्रकाश तथा खाद्य पदार्थ के लिए फसलों से होड़ नहीं करते हैं अत: उनसे पैदावार पर कोई बुरा असर नहीं पड़ सकता है।

पेड़ों की अच्छी बढवार, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जलवायु, भूमि इत्यादि के बदलते रहने से भिन्न होती है इसलिए भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए अलग-अलग जातियाँ स्वीकृत की गई हैं।

(१) **अधिक वर्षा, गर्मी, जाड़ा (ट्रापिकल जलवायु)**—(गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल का कुछ भाग, बिहार, आन्ध्र प्रदेश और मैसूर का कुछभाग) :—

बबूल, नीम, महुआ, शीसम, चीरोल इत्यादि।

(२) **अर्ध-शुष्क क्षेत्र**—(राजस्थान-उत्तरी पश्चिमी भाग को छोड़कर, पंजाब का मैदानी भाग, और उत्तरी गुजरात) : यूक्लिप्टस, बकैन, शहतूत, कान्जू, सिरस, खैर इत्यादि।

(३) **गर्म-रेगिस्तानी भाग**—(उत्तरी पश्चिमी राजस्थान, पास वाला दक्षिणी-पूर्वी पंजाब का भाग तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश, इत्यादि) :—खिजड़ी, बिलायती बबूल, कुमत, टोहीडा, ढाक, फाग, कीकर, जाल इत्यादि।

(४) **शुष्क-तथा अधिक जाड़े वाले भाग**—(उत्तर-प्रदेश का मैदानी भाग, दिल्ली, पंजाब का कुछ भाग, उत्तरी मध्य-प्रदेश, बिहार, बंगाल का उत्तरी भूभाग, तथा मध्य दक्षिणी आसाम) :—

कठसागौन, सहिजन, कैथ, सेमल, खैर, सीसो इत्यादि।

(५) **हिमालय का भाग**—(उत्तर प्रदेश, हि० प्रदेश पश्चिमी बंगाल और आसाम)

(अ) **उत्तरी और उ० प० हिमालय**—चीड़, सफेदा ओक, काला लोकस्ट इत्यादि।

(ब) **पूर्वी हिमालय**—चम्पा, आड़ू, क्रिप्टोमेरिया इत्यादि।

(६) **समुद्रतटीय भाग**—(महाराष्ट्र, मैसूर, केरल, मद्रास, उड़ीसा और प० बंगाल)—काजू, कैजूरिना इत्यादि।

उपर्युक्त सूची में केवल बहुत अच्छी उगने वाली जातियों को दिया गया है। इसमें आवश्यकतानुसार जलवायु को सहन करने वाली अन्य जातियाँ भी जोड़ी जा सकती हैं।

जंगल लगाने की विधि

(अ) **पेड़ों का बेहन तैयार करना**—बेहन के लिए फार्म का मध्य भाग जहाँ की मिट्टी उर्वर, भुरभुरी, अच्छी जल निकास वाली तथा जहाँ सिंचाई, मजदूर एवं रखवाली की सुविधाएँ उपलब्ध हों चुनना चाहिए। क्यारियाँ समतल जमीन पर १२ मीटर लम्बी तथा १ मीटर २० से० मी० चौड़ी बनानी चाहिए जो करीब ०·४ हेक्टेयर जमीन पर २ मीटर × २ मीटर की दूरी पर हों। ढालू जमीन परक्यारियाँ सीढ़ी-दार खेत बनाकर बनाई जायँ तथा जहाँ पानी ज्यादा बरसता हो वहाँ २०-२२ से० मी० जमीन से ऊँची क्यारियाँ बनाकर बेहन उगानी चाहिए। शुष्क क्षेत्रों में पानी के अधिक संरक्षण को ध्यान में रखते हुए

क्यारियों को जमीन से १५ से० मी० नीचे ही बनाना चाहिए। दो क्यारियों के बीच में ३० से०मी० रास्ता नाली के रूप में छोड़ना चाहिए जो रास्ते के अलावा सिंचाई या जल-निकास के भी काम में आ सकती है। इन बेहनों को रेगिस्तानी इलाकों में टिन के ७ से०मी० व्यास तथा २२ से०मी० लम्बाई वाले खोखले में उगाना अधिक लाभप्रद बताया गया है। केन्द्रीय मरु-भूमि अनुसंधान केन्द्र के प्रयोगों से पता लगा है कि इस टिन के खोखले में मिट्टी भरकर बेहन तैयार करना काफी सस्ता है तथा सुविधाजनक भी। इसकी लागत प्रति १०० पौधा तैयार करने पर केवल ६ रु० ही आती है। क्यारियों की उचित सिंचाई, निकाई-गुड़ाई की जाय तथा पाले या धूप से रक्षा की जानी चाहिए।

(ब) भूमि की तैयारी :—विभिन्न दशाओं में पेड़ लगाने के लिए विभिन्न तरह के गड्ढे एवं भूमि की तैयारी आदि करनी पड़ती है।

(१) बलुई भूमि वाले शुष्क इलाकों के लिए :— पौध-घर से पौधों की खूटियाँ जिसमें २२-२५ से०मी० जड़ का भाग तथा २½—५ से०मी० तने का भाग शामिल होता है जिसे स्टम्प भी कहा जाता है लगाना अधिक सफल होता है। पूरा पौधा भी नर्सरी से उखाड़ कर लगाया जा सकता है। बीज बोने से सफलता बहुत कम मिलती है। समोच्च रेखीय खाइयाँ काफी महँगी और अनावश्यक समझी जाती हैं। गड्ढे जिनका आकार ६०×६०×६० से०मी० हो उनके एक तरफ सुडौल मेंड बना देनी चाहिए। ये वर्षा के जल को एकत्रित करने तथा भूमि-क्षरण द्वारा मिट्टी के कटने-बहने से रक्षा करते हैं।

(२) भारी-भूमि में :—खाइयाँ ६ मीटर लम्बी, ६० से०मी० चौड़ी और ३० से ४५ से०मी० गहरी करीब ४½ मीटर की दूरी पर खोद ली जानी चाहिए। खाइयों के दो लाइनों की बीच की दूरी करीब ४½ से ६ मीटर इस प्रकार से रखनी चाहिए कि ऊपर की लाइन की दो खाइयों के बीच की खाली जगह के सामने दूसरी पंक्ति में खाई बनाई जावें चौड़ाई का आधा भाग खाई के सहारे बोने के बाद भर दिया जाता है और उसी तरफ को ढाल देकर करीब ७½ से०मी० जमीन से ऊँची मेड़ बना देनी चाहिए। ये खाइयाँ खेत के ढाल की विपरीत दिशा में लगाई जानी चाहिए और खाइयों की मिट्टी उसके निचले भाग पर लगा देनी चाहिए। खाइयाँ आधी खुली रख देने से इसमें पानी इकट्ठा होकर नमी-संरक्षण करता रहता है।

(३) अधिक कटी-फटी एवं खड्ड-खर्रोंह वाली जमीन के लिए :—नाला या खड्ड-खर्रोंहों की परिधि के साथ-साथ दो या तीन लगातार खाइयाँ ३ से ४½ मीटर की दूरी पर ढाल के अनुसार बना लेनी चाहिए। अधिक ढालू जमीन पर भूमि को कटने से रोकने के लिए लगातार खाइयों के प्रत्येक २ से ३ मीटर के फासले पर १—१½ मीटर जगह छोड़ देना आवश्यक है। नाला के ऊपरी भाग में भारी भूमि की तरह से स्टैंगर्ड खाइयाँ खोद लेनी चाहिए जो सदैव ढाल के विपरीत दिशा में होनी चाहिए। नाले के या खड्ड के अन्दर वाले भाग में थोड़ा झुका कर खाइयाँ खोदी जाँय जिसमें करीब ६० से०मी० खाई को पूरी चौड़ाई के आर-पार फालतू पानी बहने के लिए बना देनी चाहिए। खाई का निचला आधा भाग मिट्टी से भरकर करीब ५—१० से०मी० ऊपर तक उठा देना चाहिए। अधिक मिट्टी निचले भाग में खाई के साथ १५ से ३० से०मी० के दूरी पर ढूह कर देनी चाहिए जो किसी तरह के भी बहते पानी को रोकती हैं।

(४) उड़ते बालू के टीलों पर—छोटी-छोटी रक्षा पट्टिकाओं को समानान्तर पट्टियों में वायु गति की विपरीत दिशा में चौकोर चेस बोर्ड की भाँति कुछ आसानी से मिलने वाली झाड़ियों जैसे झरबेरी, बुई या घासों (जैसे सेवन, मूंज) द्वारा लगाकर बनाना चाहिए। इन घासों या झाड़ियों के बीज को इन रक्षा-पट्टिकाओं के पृष्ठ भाग में तारबन्दी से थोड़ी दूरी पर बोना चाहिए।

जब पेड़ एक खास तरह के बनाए हुए मिट्टी के ईंटों में उगाये जाते है तो इन्हें गहरा गाड़ देते हैं और वायु के अवरोधकों के बीच में लगाते हैं जिससे उड़ते हुए बालू के कण पौधों को नुकसान न पहुँचा सकें।

(५) **ऊसर भूमि के लिए**—अच्छी जमीन वाले भाग देखकर गोल छेद जिनका व्यास करीब ६० से० मी० हो, करीब ६० से०मी० गहरे खोद कर पूरा पौधा बेहन से उखाड़कर लगाया जाता है। इसमें बुवाई सफल नहीं होती है।

(६) **दल-दल भूमि के लिए**—इसमें मिट्टी के करीब १½ से २ मीटर ऊँचे तथा ६० से०मी० व्यास के गिलास के आकार के टीले बनाए जाते हैं और इसी पर सूराख बनाकर बुवाई करते हैं या उस पर पौध लगाते हैं।

(स) पौधों को लगाना—जब कम से कम मानसून की एक वर्षा हो जाय और खेत तैयार हो जाय तो पौध लगानी चाहिए। बदली या कम तेज धूप वाले दिन पौधा बेहन से सावधानीपूर्वक बिना जड़ों को नुकसान पहुँचाए, मुख्य खेत में लगा दिया जाता है। यह कार्य सुबह के १० बजे तक या दोपहर के बाद सायं ४ बजे के बाद करना ठीक रहता है। पौधों की जड़ें टूटी न हों। पौधे २×२ मीटर की दूरी पर लगाना स्वीकृत है जो आगे चलकर और दूर-दूर किए जा सकते हैं। रेगिस्तानी इलाकों में जहाँ नमी की कमी रहती है पौधे कुछ दूर-दूर यानी ५×५ मीटर की दूरी पर लगाना श्रेयकर है। इनकी उचित निकाई-गुड़ाई तथा देख-भाल भी करनी आवश्यक है।

कुछ पेड़ जैसे बबूल, नीम, कोकर, पीपल, शीसम, बहुत ज्यादा बीज पैदा करते हैं जो खेत में प्रति वर्ष गिरते रहते हैं तथा बाद में जम भी जाते हैं। इनको हर जुताई के साथ अच्छी तरह से नष्ट कर देना आवश्यक है।

कुछ टिड्डियाँ जो ज्वार में लगती हैं वे नीम पर अपना जीवन ठीक ज्वार के खेत से कटने के बाद शुरू कर देती हैं। दूसरे वर्ष जब फिर ज्वार बोया जाता है तो फसल पर धावा बोल कर उसे नष्ट कर देती हैं। ऐसे पेड़ों को फसलों की मेड़ों से दूर ही लगाना ठीक है।

कृषि बानिकी योजना : एक राष्ट्रीय योजना

कृषि बानिकी के दो पहलू हो सकते हैं। प्रथम पहलू में फार्म के अन्तर्गत पेड़ लगाना आता है जिसकी जिम्मेदारी स्वयं किसान की ही होती है। किसान अपने फार्म पर पेड़ लगाता तो है परन्तु यदि उसे कुछ प्रदर्शन देकर उत्साहित किया जाय तो शायद वह इस कार्य को अधिक सफलता से कर सकता है। वर्तमान समय में किसान कुछ पेड़ों को अपने फार्म के अहाते में इसलिए लगाता है कि वे भूमि एवं जल संरक्षण के अतिरिक्त उनके रोजमर्रा की लकड़ियों की आवश्यकता की पूर्ति करेंगे तथा सूखे के समय में उनके पशुओं को चारा प्रदान करेंगे।

रेगिस्तानी इलाकों में किसान बेर, खिजड़ी, फोग, कीकर, जाल इत्यादि बृक्षों को अधिक महत्व देकर लगाते हैं जिसमें पहले दो बृक्षों की जातियाँ पशुओं को सूखे के समय प्रोटीन वाला पौष्टिक चारा प्रदान करती हैं तथा अन्य पेड़ ईंधन और इमारती लकड़ियों के लिए प्रयुक्त होते हैं। फिर भी किसी नियमित प्रोग्राम में से पेड़ न लगाए जाने से ये भूमि-क्षरण को रोकने में सफल नहीं हो पाते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसानों को उत्साहित करके इन सबको एक रक्षा-पट्टिका के रूप में सामूहिक रूप से लगवाया जाय तो शायद हर तरह के फायदों की पूर्ति हो, साथ ही साथ वायु-क्षरण की रोकथाम में भी मदद मिले।

कृषि बानिकी का दूसरा पहलू पेड़ों को बंजर, पड़ती, सामुदायिक केन्द्रों, कुँओं, तालाबों इत्यादि पर लगाना है जिस पर अभी तक बहुत कम ध्यान दिया गया है। इस प्रोग्राम में किसान के भूमि एवं जल संरक्षण के अतिरिक्त अन्य लाभों की भी पूर्ति होती है।

इन सब योजनाओं को सफल बनाने में प्रसार सेवा खंड या क्षेत्रीय विकास खंड का महत्वपूर्ण योग है।

युवक मंगल दल भी इसमें सक्रिय भाग ले सकता है। गाँवों में ग्राम स्तर पर जंगल पंचायतों का निर्माण होना चाहिए जो खाली, अनुपयोगी जमीन, सामुदायिक केन्द्र इत्यादि पर पेड़ लगाने में किसानों में नयी जाग्रति पैदा करे तथा उन्हें उचित पथप्रदर्शन भी करे। इस दिशा में महाराष्ट्र, राजस्थान, पंजाब, मध्य प्रदेश, और बिहार में पहले से पेड़ों के लगाने पर कुछ योजनाएँ शुरू की गई हैं। इनको अन्य राज्यों में भी लाना होगा।

वनमहोत्सव इस दिशा में, जो प्रत्येक वर्ष १ जुलाई से ७ जुलाई तक मनाया जाता है काफी सफल रहा है। परन्तु हमें हर किसान तक जाना होगा और इसके महत्व को उनमें भरना भी होगा। आज का किसान वृक्षों के लगाने के लिए तैयार है, उसे केवल पथ-प्रदर्शन चाहिए। पेड़ लगाने से बढ़कर उसकी उचित देख-रेख इस योजना के सफलता में सहायक होगी। देश में जनता को इसे हर नागरिक, की अपनी योजना तथा अपना कर्तव्य समझना होगा। जंगल के लगाने से देश की सुख-समृद्धि में एक कड़ी और जुड़ेगी तथा खाद्य समस्या का भी समाधान हो सकेगा। आइए हम सब किसानों की मदद करें तथा इस योजना को सफल बनावें।

परिषद की डायरी का एक पन्ना

७ जुलाई को उत्तर प्रदेश के शिक्षा मंत्री श्री रामप्रकाश गुप्त परिषद भवन में पधारे और परिषद की गतिविधियों से अवगत हुये।

उन्होंने परिषद द्वारा हिन्दी के मध्यम से वैज्ञानिक साहित्य के प्रचार एवं प्रसार की प्रशंसा की और यह आशा प्रकट की निकट भविष्य में परिषद कालेजों में हिन्दी के माध्यम द्वारा शिक्षा प्रदान किये जाने के लिये आवश्यक साहित्य के प्रणयन में योग देगा।

श्री गुप्तजी ने "विज्ञान परिषद अनुसन्धान पत्रिका" के प्रकाशन पर संतोष व्यक्त किया। उन्होंने परिषद की यथाशक्ति सहायता करने का वचन भी दिया।

[क्रमशः]

दैनिक जीवन में रसायन—६

● डा० शिवगोपाल मिश्र

रसोई घर में

प्रायः रसायन विज्ञान का नाम लेते ही हमारी आंखों के सामने ऐसी प्रयोगशाला का दृश्य नाचने लगता है जिसमें एक साफ-सुथरे कमरे में सीटों के ऊपर अनेक रसायन की बोतलें रखी रहती हैं और ज्वालक (बर्नर) या स्पिरिट लैम्प के द्वारा काँच, सिलिका अथवा धातु के बने उपकरणों को अत्यन्त सावधानी से गरम या ठंडा किया जाता है। शायद ही इसमें से किसी का ध्यान इस ओर गया हो कि प्रत्येक घर की पाकशाला या रसोई घर भी प्रयोगशाला (रसायनशाला) होती है जिसमें कच्चे खाद्य पदार्थ ही आवश्यक रसायन हैं और भोजन वाले पात्र ही प्रयोगशाला के उपकरण हैं। निस्संदेह रसोईघर में रसायन का जितना विविध प्रयोग देखने को मिलता है वह अन्यत्र सुलभ नहीं।

आज की गृहलक्ष्मी के रसोई घर में आधुनिकतम साधन उपलब्ध हैं। लकड़ी के चूल्हे के स्थान पर गैस का चूल्हा या बिजली का चूल्हा (electric range), बर्फ के पात्र के स्थान पर विद्युत प्रशीतित्र (रेफ्रीजेरेटर), कड़ाही के स्थान पर बिजली से गरम होने वाले अनेक यन्त्र, मिट्टी या अन्य बर्तनों के स्थान पर ऐल्यूमीनियम या क्रोमियम से लेपित पात्र सर्वत्र देखने को मिलेंगे। यह रसायन विज्ञान की उन्नति से ही सम्भव हो सका है। इस मामले में आज की गृहलक्ष्मी अपनी पूर्ववर्ती स्त्रियों से कहीं 'अधिक भाग्य-शाली' है। वह अब भोजन को सुचारु ढंग से, कम समय में पका सकती है और अधिक काल तक उसे सुरक्षित भी रख सकती है। यह बहुत बड़ी सफलता है। प्राचीन मैले-कुचैले रसोई घरों के स्थान पर चम-चमाते रसोई घर रसायन की ही करामात हैं। यही नहीं, आज की गृहलक्ष्मी के समक्ष नाना प्रकार की वैज्ञानिक बातें देखने एवं समझने के लिये प्रस्तुत हैं।

जरा कुछ समय निकाल कर रसोई घर में जाइये और ध्यान पूर्वक प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण कीजिये। रसोई घर का रसायन कई भागों में विभाजित प्रतीत होगा।

- रसोई घर के बर्तनों का रसायन
- ईंधन या जलने वाली वस्तुओं का रसायन
- पाकशास्त्र का रसायन

इनमें से हम एक एक का बिस्तार से वर्णन करेंगे।

रसोई घर के बर्तन

रसोई घर में प्रयुक्त बर्तनों को भांड या पात्र कहते हैं। इनमें विविधता एवं अनेकरूपता पाई जाती है जो आवश्यकताओं के अनुसार तथा गृहिणी की रुचि पर निर्भर करती है।

भाँड या पात्र किन-किन पदार्थों के बने होते हैं, क्या वे भोजन पकाने पर कोई प्रभाव डालते हैं, क्या उनके प्रयोग से किसी प्रकार का खतरा है आदि विषय रसायन से सम्बद्ध हैं।

विदेशों में रसोई घर के भाँडों में सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाली धातु ऐल्यूमीनियम है। किन्तु हमारे यहाँ अब भी काँसा या फूल अथवा पीतल को अत्यधिक महत्व प्रदान किया जाता है। वास्तव में ये मिश्रधातुयें हैं। सर्वप्रथम १८८६ ई० में चार्ल्स मार्टिन हाल ने ऐल्युमिनियम धातु का सफलतापूर्वक निष्कर्षण किया। उसके बाद ऐल्यूमीनियम उद्योग ने उन्नति की और अमरीका के हर घर में ऐल्यूमीनियम के बने बर्तनों का प्रचार हो गया किन्तु द्वितीय युद्ध के छिड़ जाने पर ऐल्यूमीनियम का उपयोग हवाई जहाजों के बनाने में

होने लगा जिससे एक समय तो ऐसा आया कि घर-घर से ऐल्यूमीनियम के बर्तन ले लेकर उन्हें हवाई जहाजों के निर्माण में प्रयुक्त किया गया।

ऐल्यूमीनियम धातु अत्यन्त चमकीली एवं लचने वाली है अतः पिघली धातु से या धातु की बनी चद्दरों से विविध प्रकार के बर्तन बनाये जा सकते हैं। यह धातु ऊष्मा की सुचालक है, इसके ऊपर कलई भी की जा सकती है, इसका संक्षारण भी कम होता है। ताँबे या लोहे के बर्तनों में जैसा कसाव उत्पन्न होता है वैसा कसाव इसमें नहीं होता और वह विषैला भी नहीं होता। इस धातु के बने बर्तन हल्के होते हैं और अपेक्षतया उनका मूल्य भी कम होता है। यही कारण है कि ऐल्यूमीनियम के बने बर्तनों का प्रचार है।

कुछ गृहणियाँ यह कहती सुनी जाती हैं कि ऐल्यूमीनियम के बर्तनों के प्रयोग से जहर फैलता है—वे विषैली प्रकृति के होते हैं। जब इन बर्तनों में भोजन पकाया जाता है तो इनमें से ऐल्यूमीनियम घुल जाती है और यह विषैली होती है। किन्तु वैज्ञानिक खोजों के अनुसार यह धारणा भ्रामक एवं सरासर गलत है। हाँ, कुछ भोज्य पदार्थ ऐसे हैं जिन्हें ऐल्यूमीनियम के बने पात्रों में नहीं पकाना चाहिए। उदाहरणार्थ टमाटर तथा रसीले फलों को ऐल्यूमीनियम के बर्तनों में न तो पकाना चाहिए न उन्हें काटकर देर तक उनके सम्पर्क में रहने देना चाहिए। कारण यह कि इनके रसों में अम्ल पाये जाते हैं और ऐल्यूमीनियम इन अम्लों से प्रभावित हो उठता है। यदि इतना ध्यान नहीं रखा जाता तो भोजन में अवांछित गंध आने लगती है।

ऐल्यूमीनियम के बर्तनों पर क्षारीय पदार्थों का भी प्रभाव देखा जाता है। इससे भोजन में विचित्र रंग छूटने लगते हैं अतः ऐल्यूमीनियम के बर्तनों में न तो धोने का सोडा रखें और न ही खाने का सोड़ा।

ऐल्यूमीनियम के बर्तनों की सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक है। पतली पेंदी वाले बर्तनों को लगातार गर्म करते रहने से छेद जैसे बन सकते हैं, इन्हें बालू या कंकड़ी से माँजने पर खरोंच आ जाती हैं, चाकू से गहरे निशान बन सकते हैं और पकाते समय भोजन में कई प्रकार के रंग छूटने लगते हैं। फलतः मोटी चादर वाली धातु का ही प्रयोग करना चाहिए और इन्हें साफ करते समय विशेष ध्यान देना चाहिए।

कुछ गृहणियाँ ऐल्यूमीनियम की कड़ाहियों के स्थान पर लोहे की कड़ाहियाँ पसन्द करती हैं। यह ठीक है। इसका कारण यह है कि लोहा ऊष्मा का उतना अच्छा चालक नहीं जितनी कि ऐल्यूमीनियम धातु अतः भूँजने या कल्हारने में लोहे के बर्तन देर तक मन्द-मन्द आँच देते रहेंगे।

ऐल्यूमीनियम की बनी जो चीजें रसोई घर में मिलेंगी उनमें से प्रमुख हैं—कड़ाही, केटली, कटोरे, चम्मच, हैंगर आदि।

ऐल्यूमीनियम के बाद लोहे के बने बर्तनों का प्रयोग होता है। कड़ाहियों, तवों, चिमटों, कल्छुलों के अतिरिक्त बड़े-बड़े टबों, कड़ाहों आदि के रूप में लोहे का उपयोग होता है। यद्यपि लोहे के बने बर्तन देखने में सुडौल नहीं होते किन्तु सस्ते एवं टिकाऊ होने के कारण अधिकतर काम में लाये जाते हैं।

वास्तव में जिसे हम लोहा कहते हैं उसकी कई किस्में हैं – ढलवाँ, पिटवाँ तथा इस्पात। आवश्यकतानुसार इनमें से सबों का प्रयोग होता है। इस्पात की भी कई किस्में प्राप्त हैं किन्तु आजकल रसोई घर में जिस इस्पात की लोकप्रियता बढ़ी है वह निष्कलंकी इस्पात है। इसमें मोरचा नहीं लगता। इसके बने बरतन चमकते रहते हैं किन्तु इनकी कीमत अधिक होती है अतः सभी लोग इन्हें काम में नहीं लाते। निष्कलंकी इस्पात की बनी खाने की थालियाँ, कटोरियाँ चम्मच—सभी उपलब्ध हैं। इनका सबसे बड़ा गुण यह भी है कि इनमें दाग नहीं पड़ते, भोजन कसाता नहीं।

सामान्य तवों एवं कड़ाहियों पर पानी लगा रहने से मुर्चा लगता है जिससे न केवल गृहणियों को बारम्बार उन्हें साफ करना पड़ता है वरन् भोजन में भी मोरचा

मिलता रहता है और धीरे-धीरे लोहे का अपक्षरण होने से उसके भार में कमी आती रहती है। पानी के टवों या हौजों में मोरचा न लगने देने के लिये लोहे के ऊपर जिंक की कलई की जाती है। इसे गैल्वनीकरण कहते हैं। इससे लोहे की सुरक्षा हो जाती है। किन्तु जिंक के यौगिक विषैले होते हैं अतः खाना बनाने के लिये प्रयुक्त होने वाले बर्तनों पर जिंक की कलई नहीं करानी चाहिए।

किन्हीं-किन्हीं धार्मिक परिवारों में तांबे के बर्तनों का अत्यधिक प्रचलन देखा जाता है। गंगाजल या जल रखने के लिये, पानी पीने के लिये, हंडे, पात्र, गिलास, बाल्टी आदि सभी ताँबे के होते हैं। ताँबा अत्यन्त चमकीली धातु है और शुद्ध अवस्था में प्रकृति में पाया जाता है फलतः प्राचीन काल से मनुष्यों ने ताँबे के बने बर्तनों को प्रधानता दी है। यह ऊष्मा एवं विद्युत का उत्तम चालक भी है। यह मुलायम धातु है जिस पर लाल रंग की पालिश की जा सकती है।

किन्तु इधर एक शताब्दी से ताम्रपात्रों के प्रति लोगों की मनोवृत्ति बदली है। ताँबे के यौगिक विषैले होते हैं। यद्यपि ताँबे पर खनिज अम्लों का जल्दी प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु कार्बनिक अम्लों का प्रभाव खुली हवा में तुरन्त होता है। इससे क्षारीय कापर कार्बोनेट बनता है जिसे 'वर्डिग्रिस' कहते हैं। यह अत्यन्त विषैला लवण है।

यदि ताँबे के बर्तनों को खूब साफ रखा जा सके तब तो उन्हें उपयोग में लाना चाहिए अन्यथा नहीं। आजकल की गृहिणियों के पास इतना समय नहीं कि वे बर्तनों को चमका सकें। उन्हें चाहिए कि वे अन्य धातुओं के बर्तन काम में लावें।

आजकल ताँबे से अस्तरित बर्तन भी बिकते हैं। इनमें ऊपर ताँबे की पतली परत चढ़ी रहती है और भीतर दूसरी धातु रहती है। ऐसे बर्तनों को साफ करते समय विशेष ध्यान रखना चाहिए।

वंग या टिन या टीन के भी बर्तन काम में आते हैं किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि टीन (कनस्तर) में टिन या वंग की बहुत कम मात्रा रहती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि ऊपर से चमकने वाले टीन या डिब्बे कुछ दिनों तक पानी से भरे रहने पर मोरचे से भर जाते हैं—क्या यह लोहे की उपस्थिति का सूचक नहीं है। वास्तव में टिन धातु लोहे की अपेक्षा कम सक्रिय है और लोहे की सतह पर चिपक सकती है फलतः लोहे के बने अस्तरों पर टिन या वंग की कलई कर दी जाती है। जिन्हें ही टीन के नाम से पुकारा जाता है।

टिन की कलई निम्न प्रकार से की जाती है—

पहले लोहे की चद्दर को तनु सल्फ्यूरिक अम्ल में डुबोया जाता है जिससे मुर्चा छूट जाय और उसकी सतह बिलकुल निखर उठे। इसको तुरन्त बाद लोहे की चद्दर को पिघले टिन में डुबो कर निकाल लिया जाता है। इससे लोहे की चद्दर टिन की चद्दर का रूप धारण कर लेती है। डिब्बों के लिए इसी प्रकार से टिन-चद्दरें तैयार की जाती हैं। इनका प्रयोग डिब्बा-बन्दी के लिए होता है।

टिन की चद्दर या पत्तर को विभिन्न आकारों में काटा जा सकता है। टिन की चमक स्थायी रहने वाली है और इसका मूल्य भी कम है। किन्तु इसके बने बर्तनों की देख-रेख आवश्यक है क्योंकि खरोंच या निशान पड़ने पर लोहे की परत में मुर्चा लगने लगता है।

इनैमेल के बने पात्र

लोहे अथवा इस्पात के बने पात्रों पर काँच की चमक चढ़ा कर इनैमेल पात्र बनाये जाते हैं। प्रायः इनैमेल को भट्टी में गरम किया जाता है और उस पर बालू, सुहागा तथा अस्थि-राख या श्वेत मृत्तिका का मिश्रण पोत दिया जाता है। कभी-कभी लेड आक्साइड भी मिला दिया जाता है जिससे कड़ी परत (कलई) चढ़ जाती है किन्तु लेड आक्साइड विषैला होता है अतः इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसीलिये सावधानी बरतने की आवश्यकता है। चिटखे हुये इनैमेल पात्र में भोजन की वस्तुयें नहीं रखनी चाहिए।

खाने की थालियाँ, कड़ाहियाँ रकाबियाँ, प्यालियाँ आदि इनैमेल की बनती हैं। ये सरलता से साफ की जा सकती हैं। इन पर न तो अम्लों और न क्षारों का प्रभाव होता है अतः खट्टी रसदार वस्तुओं को इनमें रखा और पकाया जा सकता है। इनैमेल के बने पात्र सरलता से टूटते नहीं, और सस्ते होते हैं फलतः इनका प्रयोग सामान्य स्तर के लोगों में होता है।

काँच के बने पात्र

सुन्दर चमक, रंग-बिरंगी छटा, पारदर्शकता, कम मूल्य के कारण प्रत्येक घर में काँच के बने गिलास, प्याले, तश्तरियाँ, जग, अचारदान आदि बड़ी मात्रा में देखे जाते हैं। यदि कोई दुर्गुण है इन पात्रों में तो वह है इनकी भंगुरशीलता जिससे कि हाथ से छूट कर गिरने, या असमान गरम होने से काँच के बर्तन चूर-चूर होकर छितर जाते हैं, छूने वाले के अंग क्षत-विक्षत हो जाते हैं।

किन्तु इसके लिये वैज्ञानिकों ने ऊष्मासह काँच ढूँढ़ निकाला है। इसे ज्वाला के ऊपर धातु की ही भाँति रखकर गरम किया जा सकता है।

काँच आधुनिक युग की सबसे बड़ी देन है। काँच एक रासायनिक मिश्रण है जिसे सिलिकन, कैल्सियम तथा सोडियम के आक्साइडों को गलाकर तैयार किया जाता है। इस मिश्रण को गलने के लिए २५०००° फा० ताप की आवश्यकता होती है। इससे सिलिकेट बनते हैं अतः काँच विभिन्न सिलिकेटों का मिश्रण है। जब यह गला हुआ मिश्रण ठंडा होता है तो सिलिकेटों का ठोस विलयन प्राप्त होता है, उनका क्रिस्टलन नहीं होता। यदि क्रिस्टलन हो तो काँच टूटने वाला होगा। यही कारण है कि काँच तैयार करते समय ऐसे खनिज चुने जाते हैं जिन पर ताप में परिवर्तन का प्रभाव तीव्रता से न होता हो।

विभिन्न कार्यों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के काँच आवश्यक होते हैं। उदाहरणार्थ काटने के लिये तेज धार में प्रयुक्त काँच को कठोर होना चाहिए। यह ज्ञात है कि यदि सोडियम आक्साइड के वजाय पोटैशियम आक्साइड का प्रयोग किया जाय तो कठोर काँच बनेगा। अत्यधिक कठोरता लाने के लिये बेरियम, सीसा आदि का प्रयोग किया जाता है। ऐसा काँच **फ्लिंट काँच** कहलाता है। आजकल 'पाइरेक्स काँच' का अत्यधिक प्रचलन है। प्रयोगशालाओं में इसके बने उपकरणों की काफी खपत है। 'पाइरेक्स' वास्तव में व्यापारिक नाम है। ऐसे काँच में सोडियम तथा ऐल्यूमिनियम के बोरेट तथा सिलिकेट मिले रहते हैं। बोरेट की उपस्थिति के कारण काँच ऊष्मा के प्रति सह्य हो जाता है। भोजन बनाने के सभी बर्तन इस प्रकार के कांच से बनाये जा सकते हैं।

रंगीन काँच मैंगनीज, ताम्र, लोह आदि के आक्साइड मिलाकर तैयार किया जाता है। रंगीन काँच जल पीने की गिलासों या तश्तरियों में प्रयुक्त होता है।

सहज प्रश्न यह उठता है कि क्या काँच में प्रयुक्त रासायनिक पदार्थ भोजन पकाते समय बुरा प्रभाव नहीं डाल सकते। उत्तर होगा—नहीं। फलतः काँच के पात्र सर्वोत्तम होते हैं। साथ ही वे सरलता से साफ भी किये जा सकते हैं जिससे उनमें गंदगी नहीं रह पाती। यही नहीं, जिन बर्तनों में खाना पकाया गया हो, उन्हीं को साफ करके खाने के लिये प्रयुक्त भी किया जा सकता है।

किन्तु एक सावधानी बरतनी होगी। चूँकि काँच ऊष्मा का सुचालक नहीं इसलिये इसके पात्रों में बिना पानी के भोज्य पदार्थ या तो लग जावेंगे या जलने लगेंगे। एकाएक पानी डाल देने पर वे टूट भी सकते हैं। यही सबसे बड़ा दोष है। किन्तु इतने पर भी काँच के बर्तनों का प्रयोग बढ़ेगा क्योंकि धातुओं का उपयोग युद्ध की सामग्री तैयार करने के लिये सीमित रखना होगा।

चीनी मिट्टी से बर्तन

चीनी मिट्टी के बर्तन मिट्टी के बर्तनों से भिन्न होते हैं। वे अधिक चमकदार, खटाऊ, कठोर एवं अप्रवेश्य

होते हैं। इनमें रखी पकाई हुई खाद्य वस्तुओं के कसैले होने का प्रश्न नहीं उठता और न हो उनके पात्रों के क्षरण होने का ही। हाँ, इनका एक दोष है कि मिट्टी की ही भाँति ऊँचाई से गिरने पर ये टूट जाते हैं। यद्यपि इन्हें आग पर गरम करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है प्रायः इनमें खाने-पीने की चीजें रखी जाती हैं।

चीनी मिट्टी के जिन प्रमुख बर्तनों का उपयोग होता है उनमें चाय पीने के प्याले तथा तश्तरियाँ, खाने की प्लेटें, दाल तथा तरकारी के पात्र, चायदानी अचार मुरब्बे रखने के पात्र, घड़े आदि हैं।

चीनी मिट्टी के बर्तन मृत्तिका (Clay) से बनाये जाते हैं। केओलीन ऐसी ही मृत्तिका है। पहले इसे चूर्ण करके पानी के साथ पीस करके लेई बनाई जाती है और तब इसे साँचों में ढाल लिया जाता है। इन कच्चे साँचे में ढले बर्तनों को भट्टी में पकाया जाता है। इन्हें रंध्रविहीन बनाने के उद्देश्य से भट्टी में नीचे से नमक (NaCl) की वाष्प बनने दी जाती है जो पात्रों की सतह पर घुस कर कठोर सोडियम ऐल्यूमीनियम सिलिकेट की परत बना देती है।

पात्रों पर चमक (ग्लेज) लाने के उद्देश्य से धात्विक आक्साइडों का व्यवहार होता है। रंग-विरंगी अनुकृतियाँ भी पात्रों पर बनाई जाती हैं। हमारे देश में चुनार में ऐसे बर्तन बहुत समय पूर्व से बनाये जाते थे। अब तो बंगाल में चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने का एक बहुत बड़ा कारखाना है।

क्या प्लास्टिक और पालीथीन के पात्र उपयोगी नहीं होंगे? उत्तर होगा केवल संग्रह के कार्यों में। उन्हें आग के ऊपर नहीं रखा जा सकता। वे जल जावेंगे। पानी के गिलास या पात्र आदि के लिये प्लास्टिक तथा पालीथीन प्रयुक्त किया जा सकता है। इनमें क्षारों या अम्लों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

स्पष्ट है कि गृहणी या रसोइये को रसोईं घर के लिये विविध प्रकार के पात्रों का चुनाव उनकी उपयुक्तता, मूल्य आदि के अनुसार करना होगा। यह चुनाव काफी रासायनिक जानकारी की अपेक्षा रखता है और यदि गृहिणी को विभिन्न पदार्थों के गुणों का ज्ञान नहीं है तो वह सदैव त्रुटिपूर्ण चुनाव करेगी जिससे भोजन के खराब होने की सम्भावना बनी रहेगी।

ध्यान रहे कि पुराने समय से चली आती परम्परा की अपेक्षा वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित बातों पर विश्वास करना होगा।

भोजन के समय प्रयुक्त पात्र एवं वस्तुयें

बड़ी-बड़ी दावतों में मेजों के ऊपर सजे नाना प्रकार के पात्र, छूरी-काँटा, चम्मच देखकर देहात का रहने वाला चौंक उठता है। वह थाली में खाने का अभ्यस्त है, लोटे या गिलास में पानी पीता है जो धातु के बने होते हैं। उसे चम्मच की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार से भोजन के समय साज विपरीतता का कारण है लोगों की खुशहाली और गरीबी। खुशहाली के कारण आधुनिकतम वैज्ञानिक खोजों का उपभोग सम्भव है किन्तु गरीबों में वैसा सम्भव नहीं। साथ ही गरीब लोग धर्मांध होते हैं। वे छूरी काँटे से खाना पाप समझते हैं, चीनी मिट्टी की प्लेटों को स्पर्श करना दोष मानते हैं। इसका कारण यह है कि आदि मानव के पास विशेष साधन न थे। वह हाथ से खाता था। चाकू छूरी उसे कहाँ से मिलते? जब मनुष्य ने धातुओं की खोज की उसके बाद ही उनसे बनी वस्तुयें प्रयोग में आनी प्रारम्भ हुई। आज के वैज्ञानिक युग में प्राचीन परम्परायें तोड़ दी गई हैं। छूरी-काँटे से खाना स्वास्थ्यप्रद बताया जाता है। साथ ही मेज पर प्रयुक्त विविध प्रकार के बर्तन किसी-न किसी प्रकार धातु के बने बर्तनों से उत्तम, आकर्षक एवं लाभप्रद सिद्ध हुये हैं। यदि कोई यह कहे कि केवल धनीमानी व्यक्तियों के विलास की सामग्री के रूप में ये इतनी सारी चीजें प्रयुक्त की जाती हैं तो ठीक नहीं होगा। अब भारत के अधिकांश शिक्षित परिवारों में खाने की मेज पर सजा हुआ सामान मिलेगा। बोदी या अनाकर्षक चीजों के स्थान पर रंग-बिरंगी वस्तुयें मिलेंगी। कारण कि चीजों को अलंकृत करना

और अलंकृत वस्तुयें मनुष्य को सुहावनी लगती हैं। यही तो सभ्यता का विकास है। यही कारण है कि एक ओर जहां सस्ती चीजें भी आकर्षक रूप में बाजारों में उपलब्ध हैं और घरों में खाने की मेज में रखी मिलती हैं वहीं कुछ कीमती चीजें भी। चाँदी के बर्तनों का प्रयोग ऐसा ही है। आजकल चाँदी की बनी थालें, तश्तरियाँ, गिलास सभी कुछ उपलब्ध हैं। इनका प्रयोग मात्र अलंकरण की प्रवृत्ति के कारण है। किन्तु जिन्हें सामान्यतः हम चाँदी के बर्तन समझते हैं वे पूर्णतः चांदी के नहीं बने होते। उन पर या तो कलई रहती है या परत चढ़ी रहती है किन्तु सर्वसाधारण को भ्रान्ति यही होती है कि ये पात्र चाँदी के हैं।

चाँदी के पात्र

चाकू, छूरी, काँटे, चम्मच तथा गहरे पात्र चाँदी के बनाये जाते हैं। यदि चाहें तो विशुद्ध रजत धातु का प्रयोग इनके बनाने में किया जा सकता है। रजत अत्यन्त मृदु, श्वेत रंग की धातु है जिस पर पालिश की जा सकती है। यह विशुद्ध अवस्था में प्राप्त की जा सकती है किन्तु एकदम रजत के बने पात्रों में भी ७·५% ताँबा मिला रहना आवश्यक है। रजत के पात्र गली धातु को साँचों में भरकर या रजत पट्टी को काट-पीट कर बनाये जाते हैं। प्रायः रजत तथा ताम्र की मिश्रधातु प्रयुक्त की जाती है किन्तु ताम्र के बने पात्र पर रजत का विद्युतलेपन किया जा सकता है।

आजकल खाने की मेज पर काम आने वाली अधिकांश वस्तुयें रजत पट्टित होती हैं। चाकू, छूरी तथा चम्मचों के लिये चाँदी से कम मूल्य वाली किसी भी धातु या मिश्रधातु को चुन लिया जाता है—उदाहरणार्थ जर्मन सिल्वर—जिसमें रजत बिल्कुल नहीं होता। इसमें ५२-६०% ताम्र, १—२२% निकेल तथा २५% जिंक या इस्पात रहता है। फिर इस पर रजत का विद्युतलेपन किया जाता है।

रजत के विद्युतलेपन के लिये किसी कम मूल्य वाली धातु से बने छूरी, काँटे तथा चम्मचों या अन्य पात्रों को बिल्कुल साफ होना चाहिए। इन वस्तुओं को एक बड़े भारी पात्र में कैथौड के रूप में लटका दिया जाता है और एक रजत धातु की छड़ को ऐनोड बना लिया जाता है। तब पात्र में रजत लवण—सिल्वर पोटैशियम सायनाइड का विलयन भर दिया जाता है और विद्युत प्रवाहित की जाती है। इससे रजत दण्ड से रजत के आयन निकल कर उन वस्तुओं की सतह पर निक्षेपित होने लगते हैं जिन पर रजत की कलई करनी होती है। कलई की जितनी मोटी सतह चढ़ानी हो उसीके अनुसार विद्युत धारा का प्रवाह समय देख-कर किया जाता है। पतली सतह चढ़ाने के लिये कम समय तक विद्युत की कम धारा प्रवाहित की जाती है। इसके बाद इन वस्तुओं को निकालकर धो लिया जाता है और इन्हें पालिश करके चमका लेते हैं।

यह स्मरण रखना होगा कि विद्युतलेपन द्वारा रजत की जितनी मोटी सतह चढ़ाई जावेगी, वस्तुओं की उम्र भी उतनी बढ़ेगी। किन्तु माँजने धोने में कलई का क्षरण अवश्यम्भावी है। इस दृष्टि से जहाँ पर अधिक घिसने की सम्भावना होती हैं वहाँ-वहाँ पर चम्मचों या छूरी आदि में चाँदी की गहरी कलई की जाती है।

किन्तु चाँदी के बने छूरी या काँटे के स्थान पर निष्कलंकी इस्पात के बने सामान काम में लाने चाहिए। इनमें क्रोमियम धातु इस्पात के साथ मिली रहती है। इससे ये संक्षारित नहीं होते हैं।

चाँदी के बने बर्तनों की सुरक्षा आवश्यक है। यदि पानी के सम्पर्क में इन्हें रात भर छोड़ दिया जाय तो दाग पड़ जाते हैं। यही नहीं, छोड़ा हुआ भोजन सूख जाता है जिसे छुटाना कठिन हो जाता है। इसे छुटाने के लिये उदासीन साबुन के साथ गर्म किन्तु मृदु जल से बारम्बार धोकर मुलायम सूती कपड़े से सुखा लेना चाहिए। धोते समय खरोंच नहीं पड़नी चाहिए। छूरी काँटे से अलग से धोकर सुखाना चाहिए। जब काम में उन्हें न लाना हो तो कागज या कपड़े में लपेट कर बक्से में रख देना चाहिए।

चाँदी के बने बर्तनों पर दाग क्यों लगते हैं ? क्या वायु के संसर्ग में आने पर लोहे की भाँति का ही आक्साइड बनता है ? उत्तर होगा—नहीं। दाग पड़ने का कारण है सिल्वर सल्फाइड का बनना—यह काले रंग का होता है और तभी बनता है जब H_2S गैस या भोजन में पाये जाने वाले गंधक के यौगिक रजत के सम्पर्क में आते हैं। क्या कभी ध्यान दिया है कि अंडे की जर्दी या आमलेट के सम्पर्क में चाँदी के बर्तन मलिन क्यों पड़ जाते हैं ? क्या यह भी अनुभव किया है कि जिन रसोई घरों में कोयला जलता है वहाँ भी चाँदी के बर्तन जल्दी ही मलिन पड़ जाते हैं ?

ध्यान रहे कि चाँदी के बर्तनों को रबर की चद्दरों से न लपेटें। रबर में सल्फर (गंधक) होता है जिससे चाँदी के बर्तनों में दाग पड़ जाते हैं।

दाग पड़ने पर उन्हें छुड़ाना आसान नहीं है। कितना भी माँजिये—खरोंच के अतिरिक्त और कुछ लब्धि नहीं होगी। किन्तु रासायनिक विधि से तुरन्त ही दागों को साफ किया जा सकता है। विधि निम्न प्रकार है :—

एक ऐल्यूमीनियम के बने पात्र में चाँदी के बने छूरी काँटों को पात्र के सम्पर्क में रखकर उसमें नमक ($NaCl$) तथा पाक सोडा ($NaHCO_3$) का गरम विलयन डालते हैं और फिर आग पर रखकर सभी चीजों को उबालते हैं। इससे दाग छूट जाते हैं। अब इन चीजों को निकाल कर धो लेते हैं और तब सुखाते हैं। इस विधि से न तो चाँदी निकलती है, न वस्तुयें ही खराब होती हैं।

ऊपर दी गई विधि को वैद्युतअपघटनी विधि भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि ऐल्यूमीनियम तथा रजत दो इलेक्ट्रोड बन जाते हैं और सोडा तथा नमक का विलयन विद्युतअपघट्य का काम देता है। इससे कुछ ऐल्यूमीनियम आयन बनते हैं जो सोडियम बाइ-कार्बोनेट से क्रिया करके हाइड्रोजन गैस बनाते हैं। यह सिल्वर सल्फाइड के दाग को छुड़ा देती है।

$$6NaHCO_3 + 2Al \rightarrow 2Na_3\ AlO_3 + 6CO_2 + 3H_2$$

$$Ag_2S + H_2 \rightarrow 2Ag + H_2S$$
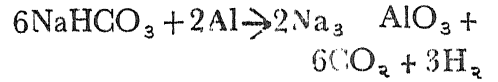
चाँदी के बर्तनों की सफाई की दूसरी विधि है उन पर पालिश करना। बाजारों में ऐसी कई पालिशें बिकती हैं। ऐसी पालिशों में साबुन तथा जल के साथ घर्षणकारी वस्तुयें—यथा झाँवाचूर्ण, चूना, सड़ा पत्थर आदि मिले रहते हैं। कुछ पालिशों में सोडियम बाइ-कार्बोनेट, मोम, ग्लीसरीन या हाइपो मिला रहता है। साबुन के कारण बर्तनों की चिकनाई तथा धूल निकल जाती है इसके द्वारा दाग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दाग को छुड़ाने वाला पदार्थ तो घर्षणकारी पदार्थ होता है। इससे बर्तन की तमाम चाँदी निकल जाती है। अतः पालिशों के चुनाव के समय हाथ की अँगुलिओं के बीच रगड़कर देख लेना चाहिए कि उसमें कंकड़ी न हों अन्यथा इससे बर्तन माँजने पर चाँदी की हानि होगी। अच्छा तो यह हो कि घर पर ही पालिश तैयार कर ली जावे। इसके लिये निम्न गुर का प्रयोग करें।

३ चम्मच साबुन का चूरा, ½ औंस ग्लीसरीन १½ औंस गरम जल तथा १ चम्मच अमोनिया विलयन। इस मिश्रण को हिलाकर इसमें उत्तम कोटि की सफेदी मिला दीजिये। इस पालिश को कार्कदार बोतल में रखें और अवसर आने पर काम में लावें। इस पालिश को बर्तन में तब तक रगड़ें जब तक दाग छूट न जाय। फिर इसे मुलायम कपड़े से गरम जल में सिक्त करके पोंछ कर सुखा लें। बर्तन चमचमाने लगेंगे।

चीनी मिट्टी के बर्तन : ये तो खाने की मेज के मानों मुख्य अंग हैं। इनके सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों पर उल्लेख किया जा चुका है।

चीनी मिट्टी एक प्रकार की मृत्तिका है। इसका प्रयोग अत्यन्त प्राचीनकाल से बर्तनों के बनाने के लिये मिश्र, बैबीलोनिया ग्रीस तथा हमारे देश में होता

रहा है। प्राचीन खण्डहरों की खुदाई से जो मृद्‌भाण्ड प्राप्त हुए हैं, वे इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

चीनी मिट्टी नाम इसलिये प्रचलित हुआ क्योंकि चीनवासी अनेक प्रकार के आकर्षक बर्तन बनाने में सफल हुये। आजकल यूरप तथा अमरीका में भी इन बर्तनों का निर्माण होने लगा है।

चीनी मिट्टी अत्यन्त व्यापक पदार्थ है। आज तो कई प्रकार की मृत्तिकायें उपलब्ध हैं। कोई भी मृत्तिका सिलिकेटों का मिश्रण होती है। इनमें केओलीन तथा फेल्स्पार के नाम प्रमुख हैं। कभी-कभी बालू तथा कुछ धात्विक आक्साइड भी इनमें मिश्रित होते हैं। यदि लोह रहता है तो इनसे बने बर्तनों में लाल या पीला रङ्ग आ जाता है किन्तु रङ्गने का कार्य प्राय: बाद में किया जाता है फलत: विशुद्ध मृत्तिका का पहले चुनाव किया जाता है। यह हाइड्रोजन ऐल्यूमिनियम सिलिकेट होती है। इसी से श्वेत रङ्ग के चीनी मिट्टी के बर्तन तैयार किये जाते हैं।

चीनी मिट्टी को पहले पीस करके पानी मिलाते हैं। तब इसे छान करके कंकड़ी निकाल देते हैं। फिर पानी को भी पृथक कर देते हैं। अब इसमें आवश्यकतानुसार कुछ अन्य पदार्थ मिलाये जाते हैं। यथा फेल्स्पार या फ्लिंट और तब इसमें पानी मिलाकर मशीनों द्वारा हिलाकर लोई बना लेते हैं। तब इसे साँचों में ढालते हैं।

साँचे में बने बर्तनों को निकालकर सौगरों में रख कर सुखाया जाता है और तब भट्टों में रखकर पकाया जाता है। भट्टे के भीतर २२५०° फा० ताप रहता है। इस ताप पर पके बर्तन सरन्ध्र और कठोर होते हैं और बिना प्रलेप (ग्लेज) के काम में नहीं लाये जा सकते।

ग्लेज करने की क्रिया के अन्तर्गत पकाये बर्तनों को एक मिश्रण में जिसे स्लिप (Slip) कहते हैं, डुबोया जाता है या छिटका अथवा पोता जाता है। इस मिश्रण में फेल्स्पार, फ्लिंट तथा लिथार्ज (लेड आक्साइड) चूर्णित अवस्था में जल के साथ मिले रहते हैं। इस मिश्रण के लेप करने के बाद बर्तनों को सूखने दिया जाता है और एक बार फिर भट्टे में पकाया जाता है। इससे चमक (ग्लेज) आ जाती है।

चीनी मिट्टी के बर्तनों में जितनी चित्रकारी या अलंकरण होता है उसे या तो ग्लेज के पहले या बाद में किया जाता है। यदि ग्लेज के पूर्व ही चित्रकारी की जाती है तो यह ज्यादा टिकाऊ होती है।

चित्रकारी बनाने के लिये लिथोग्राम ट्रांसफर पेपर प्रयुक्त किया जाता है। इसके लिये पहले लियोग्राफी पत्थर पर वाञ्छित डिज़ाइनें खोद ली जाती हैं और फिर मोम के साथ वांछित रंग भर दिये जाते हैं। तब इन डिजाइनों को पेपर पर स्थानान्तरित कर लिया जाता है। अब इस पेपर को चीनी मिट्टी के बर्तन पर चिपका करके पानी से तर करते हैं जिससे बर्तन की सतह पर डिज़ाइन उतर आती है।

बर्तन पर हाथ से भी खुदाई करके डिजाइनें बनाई जाती हैं। चीनी मिट्टी के बर्तनों का चुनाव करते समय काफी सावधानी बरतनी चाहिए। कुछ व्यापारी चीनी मिट्टी, कुछ पोर्सलेन तथा कुछ 'अर्थेनवेयर' (मिट्टी) के सामान के नाम से उनमें अन्तर बताकर भिन्न-भिन्न दामों की माँग करते हैं। किन्तु आपको अपनी रुचि के अनुसार सुन्दरता, टिकाऊपना तथा उपयोगिता का ध्यान रखते हुये सामानों का चुनाव करना चाहिए। सबसे अच्छा चीनी मिट्टी का सामान अर्द्धपारदर्शी होता है और लकड़ी की छड़ी से ठोंकने पर टनटनाता है। घटिया सामान अपारदर्शी होता है और ठीक से टनटनाता नहीं। अच्छी बात होगी कि चिटकनें तथा ऊपर से लेपे गये स्थानों का भी ध्यान से निरीक्षण करके सामान खरीदा जाय।

ऐसे स्थलों की जाँच लाल स्याही के पानी में इन वस्तुओं को डुबो कर की जानी चाहिए। यदि वस्तुयें चिटकी हैं तो उनमें स्याही घुस जावेगी और छुटाने पर छूटेगी नहीं।

बाजारों में चीनी मिट्टी के बर्तन कई श्रेणियों में करके बेचे जाते हैं। उत्तम श्रेणी के बर्तन ही बिना किसी ऐब के होते हैं। सभी बर्तनों पर निर्माता की सील होनी चाहिए। रंगों का चुनाव खाने की मेज की अन्य वस्तुओं से मेल खाने के आधार पर होना चाहिए।

काँच की चीजें बनाने की विधि का पहले ही वर्णन किया जा चुका है। यहाँ पर केवल काँच की पच्चीकारी तथा दर्पणों का वर्णन किया जावेगा।

काँच इतना कठोर होता है कि उस पर कोई डिजाइन खोद पाना कठिन है। किन्तु रासायनिक विधि से यह कार्य सरलता से सम्पन्न किया जा सकता है। काटने का काम एमरी चक्र या घर्षकों द्वारा किया जाता है।

काँच पर डिजाइन खोदने के लिये पहले उस पर मोम का लेप कर देते हैं और फिर मोम पर डिजाइन बना देते हैं। इससे डिजाइन वाले काँच के अंश ही खुल जाते हैं। अब इन अंशों के सम्पर्क में या तो हाइड्रोफ्लोरिक अम्ल (HF) या इसकी वाष्पें लाई जाती हैं। इस अम्ल का विशेष गुण यह है कि यह काँच को ही निक्षारित कर सकता है, मोम को नहीं। फलत: काँच में वैसी ही डिजाइनें बन जाती हैं। अब मोम को हटा दिया जाता है।

दर्पणों के बनाने में काँच का उपयोग होता है। उन्हें प्रतिबिम्ब देखने के योग्य बनाने के लिये उनका रजतन (Silvering) किया जाता है। यह क्रिया काँच की सतह पर रजत लवणों को अपचित करके चाँदी की पतली सतह उत्पन्न करती है।

दर्पण तैयार करने के लिये रोशेल लवण (जो सोडियम पोटैशियम टार्टरेट है) के साथ सिल्वर नाइट्रेट तथा अमोनिया का विलयन काम में लाया जाता है। सिल्वर नाइट्रेट के अपचयन से काँच पर रजत निपेक्षित हो जाती है और दर्पण बन जाता है।

सामान्य काँच की पट्टी में रजत का पतला लेप करके सस्ते दर्पण तैयार किये जा सकते हैं।

दैनिक जीवन को विज्ञान के आधार पर आँकते रहें। वैज्ञानिक जीवन बिताने का अभ्यास करें। सामाजिक जीवन में क्रान्ति लाने का यही एकमात्र उपाय है।

मक्खियों से सावधान

● शत्रुघ्न

विश्व के किसी भी कोने में चले जाइये। जहाँ कहीं भी मनुष्य दिखेंगे वहाँ पर मक्खियाँ भी दिखेंगी। तो क्या इनसे पिंड छुटाना कठिन सिद्ध नहीं होता? अवश्य। आश्चर्य है कि प्रारम्भ से ही इतनी घृणास्पद एवं अवहेलित होकर भी ये लुप्त नहीं हुईं। यहाँ तक कि वैज्ञानिक युग के मनुष्यों के रासायनिक प्रहारों का भी इन्होंने डटकर सामना किया है।

बाइबिल में मक्खियों के झुण्डों का उल्लेख है। मेसोपोटामिया में मलमूत्र के गाड़े जाने के प्रमाण ३००० ई० पू० तक के प्राप्त हुये हैं जो निश्चित रूप से मक्खियों से बचाव के लिये ही किया गया होगा। ग्रीसवासी तथा रोम के रहनेवालों का विचार था कि भोजन में मक्खी पड़ जाने से पेचिश की बीमारी होती है। हमारे देश में 'दूध की मक्खी' कहकर अत्यन्त उपेक्षणीय स्थिति का बोध कराया जाता है।

ऐसा अनुमान है कि सर्वप्रथम १४६५ ई० में डेनमार्क के एक पादरी ने मक्खियों की वृद्धि से ताऊन के फैलने की आशंका व्यक्त की। १७ वीं शती में एक अंग्रेज डाक्टर ने यह लिखा कि यदि गर्मियों में घरों में मक्खियों की बढ़ती हो तो आने वाली शरद ऋतु में लोगों का स्वास्थ्य गड़बड़ रहेगा।

ज्यों-ज्यों जीवाणु विज्ञान ने प्रगति की त्यों त्यों मक्खियों के विषय में नवीन जानकारियाँ सामने आईं और सामान्य लोगों में मक्खियों के प्रति घृणा एवं उनसे सतर्क रहने की भावना घर करती गई।

ऐसा अनुमान है कि मक्खियाँ रोगों की वाहिका हैं। उनमें १०० प्रकार के हानिकारक प्राणी रहते हैं जिनसे मनुष्यों तथा पशुओं में कम से कम ६५ प्रकार के रोग फैलते हैं। इन रोगों में पेचिश, टाइफाइड, हैजा, यक्ष्मा, कोढ़, ऐंथ्रेक्स आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार सामान्यतः मक्खियों को हम ऐसा शत्रु समझते हैं जो भरी बन्दूक से सज्जित हैं किन्तु इसके प्रमाण उतने सबल नहीं है कि हम उस बन्दूक के दागने से ही घायल हुये हैं। आशंका अब भी यही है कि मक्खियाँ उतनी गुनहगार नहीं जितनी कि वे बदनाम हैं।

क्या आपने कभी विचार किया है कि जाड़े के दिनों में जब मक्खियाँ निष्क्रिय होती हैं तो भी पेचिश रोग क्यों फैलता है? क्या सभी रोगों के लिये वे ही उत्तरदायी हैं? उत्तर होगा—नहीं क्योंकि यह तो भलीभांति सिद्ध हो चुका है कि मलेरिया के जर्म मच्छर द्वारा ले जाये जाते हैं किन्तु मक्खी पर तो केवल सन्देह होने के कारण दोषारोपण रहता है। क्या यह सम्भव नहीं कि कोई भी रोग निम्न में से किसी कारण से फैला हो :

(१) भोजन
(२) हाथ का स्पर्श
(३) मल
(४) मक्खी

अब दूसरी तरह से विचार कीजिये। अधिकांश गर्म मुल्कों तथा पिछड़े देशों में ऐसे रोगों की भरमार है जो मक्खियों द्वारा फैले माने जाते हैं और संयोग की बात यह है कि इन देशों में मक्खियों की संख्या इतनी अधिक है कि घर के भीतर या बाहर सर्वत्र खाने की चीजों तक में इनका बिना किसी रोकटोक के आवागमन होता रहता है। फलतः यह विचार करना ही होगा कि वे कौन से प्रमुख कारण हैं और वे कौन सी दशायें हैं जिनके अन्तर्गत रोग फैलते हैं।

यह भलीभाँति ज्ञात है कि प्राणियों के द्विपंखी वर्ग में मच्छर, डँसा तथा अनेक उड़ने वाले कीट सम्मिलित हैं। जिसे हम मक्खी कहते हैं वे लगभग २०० प्रकार की होती हैं जिनमें से घरों में पाई जाने वाली मक्खी तथा नीली मक्खी प्रमुख हैं।

घरेलू मक्खी की आदत विष्टा खाने की है। यह काट नहीं सकती क्योंकि इसकी सूँड त्वचा में प्रविष्ट नहीं हो सकती। कूड़े, सड़े फल, मांस आदि पर बैठने वाली मक्खियाँ भी काटने वाली नहीं होतीं फलतः ये पशुओं के रक्त को दूषित नहीं कर सकतीं किन्तु ये उन तमाम काटने वाली मक्खियों के पास भिनकती हैं जो तमाम कीटाणुओं को फैलाती हैं।

प्रयोगों से पता चला है कि मनुष्यों के रोगों को फैलाने में मक्खियां भाग लेती हैं। उदाहरणार्थ यह देखा गया है कि सालमोनेला नामक बैक्टीरिया जो भोजन-विषाक्तन, गैस्ट्रोएन्ट्ररिटिस फैलाने वाले हैं वे मक्खियों द्वारा ही प्रसारित होते हैं। फलतः पूर्वी देशों का रोग पश्चिम में तथा पश्चिम का पूर्वी देशों में भोज्य पदार्थों के माध्यम से पहुँच सकता है। प्रेक्षणों से यह ज्ञात हुआ है कि मेक्सिको के एक गाँव में १० प्रकार की मक्खियों में १२ प्रकार के बैक्टीरिया उपस्थित थे। यह संख्या पशुओं, सुअरों या चूहों द्वारा वहन किये जाने वाले बैक्टीरिया की संख्या से कई गुनी अधिक थी।

यदि मक्खियाँ रोग फैलाती हैं तो कितनी दूर तक ? एक प्रयोग द्वारा यह देखा गया कि प्रयोगशाला से छोड़ीं गई मक्खियां लगभग १३ मील के घेरे तक उड़ीं। किन्तु यह कहा जा सकता है कि यह दूरी कम या ज्यादा भी हो सकती हैं फलतः बूचरखानों के आसपास भिनकने वाली लगभग २ लाख मक्खियों पर स्फुरदीप्त रंजक छिड़का गया और फिर इनके उड़ने के बाद उन्हें पकड़ करके लाकर पराबैंगनी प्रकाश में देखा गया। पता चला कि लगभग ५४३ मक्खियाँ आसपास के हाटों में ३ मील की दूरी तक फैल गईं।

एक बार यह निश्चित हो जाने पर कि मक्खियाँ दूर दूर तक यात्रा करती हैं और रोगों के बैक्टीरिया का वहन करती हैं यह जानना शेष रहता है कि रोग फैलाने के लिये पर्याप्त रोगाणुओं का वे वहन करती हैं या नहीं। परीक्षणों से यह पता चला है कि सैलमोने-लोसिस रोग के उत्पन्न होने के लिये कम से एक लाख या इसके अधिक जीवाणुओं की आवश्यकता होती है। इतना निश्चित है कि मक्खियाँ इतनी बड़ी संख्या में जीवाणुओं की प्राप्ति न तो भोज्य पदार्थों के स्पर्श मात्र से कर सकती हैं और न केवल भोजन पर बैठकर इतने जीवाणु हमारी आंतों में प्रविष्ट करा सकती हैं।

एक और रोचक परीक्षण बच्चों की पेचिश के सम्बन्ध में किया गया। अमरीका में एक शहर को दो भागों में विभाजित करके एक भाग में डी० डी० टी० के छिड़काव द्वारा मक्खियों का विनाश कर दिया गया तो उस भाग में पेचिश रुक गई। किन्तु दूसरे वर्ष जब दूसरे भाग में डी० डी० टी० छिड़की गई तो पहले भाग में पेचिश पुनः प्रारम्भ हो गई। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि मक्खियों में डी० डी० टी० के प्रति प्रतिरोधकता उत्पन्न हो चुकी थी।

मक्खियों द्वारा रोग फैलाने के सम्बन्ध में अन्य दृष्टि से भी अध्ययन किया गया है और वह है उनका जीवन चक्र मक्खी की चार अवस्थायें हैं--अंडा, लार्वा, प्यूपा तथा बच्चा। मादा मक्खी १००-१५० अंडे एक समय में देती हैं। ये अंडे प्रायः खाद या कूड़े के ढेर में दिये जाते हैं। एक ही दिन में ये अंडे फूटकर लार्वा में परिणत हो जाते हैं। यह अत्यन्त तीव्र गति से बढ़ता है। जरा अनुमान करें कि प्रारम्भ में इसका भार ०·१ मिग्राम रहता है किन्तु ५ दिनों में ही यह ८०० गुना भार वृद्धि प्रदर्शित करता है। किन्तु लार्वे की विचित्रता है कि यह ठोस भोजन नहीं कर पाता फलतः इसे द्रव भोज्य पदार्थ की आवश्यकता होती है। ऐसा कथन है कि इस लार्वे में एक ऐसा ऐंजाइम उत्सर्जित होता है जो ठोस प्रोटीन को घोल सकता है। १४ दिनों में लार्वा मक्खी का रूप धारण कर लेता है।

प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि लार्वा को अपनी वृद्धि के लिये जीवाणु चाहिए। उनके बीच ही वह बढ़ता है। किन्तु जरा आश्चर्यजनक बात भी सुनें कि ये जीवाणु मक्खी बनने पर उससे दूर हो जाते हैं। ये सब प्यूपा के खोल में ही रह जाते हैं। इससे जीवाणु रहित मक्खी प्राप्त होती है। यह अत्यन्त विस्मयकारी घटना है।

कुछ लोगों का विचार है कि मक्खियों के पाचक तन्त्र में कुछ जीवघ्न होते हैं। भोज्य पदार्थ को मुख से मलद्वार तक की यात्रा करने में ३० मिनट लगते हैं किन्तु पाचक तन्त्र में एक ऐसी "मृत्यु घाटी" होती है जिसमें पहुँचते ही जीवाणु विनष्ट हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि इस क्षेत्र में अम्ल उत्पन्न होता है।

वैज्ञानिक भी राष्ट्रीयता का मर्म समझता है। राष्ट्र तो वही है किन्तु राजनीतिज्ञ अपने को सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रपरक मानते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि उनका प्रत्येक कार्य विघटनात्मक है जबकि वैज्ञानिक का प्रत्येक कार्य सृजनात्मक है।

देश में विज्ञान की पूजा होने पर ही वैज्ञानिकों का मान होगा।

आयें, पन्द्रह अगस्त के पुण्य पर्व पर हम यही कामना करें कि विज्ञान पूज्य बने, जिससे वैज्ञानिकों को सन्तोष हो।

भारत के वैज्ञानिक तीर्थ

पिम्परी का रोगाणुनाशक दवाखाना

पूना के निकट पिम्परी नामक स्थान पर स्थित 'हिन्दुस्तान एण्टिबायोटिक्स' का कारखाना इस कार्य-सिद्धि में महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है। भारत में जितनी पैनिसिलिन और स्ट्रैप्टोमाइसिन तैयार होती है उसका लगभग दो-तिहाई भाग इस कारखाने में तैयार होता है। इसके अलावा इस कारखाने ने औषध के रूप में तथा कृषि में उपयोग के लिए अधिक क्षमता वाली कई नई रोगाणुनाशक दवाएं तैयार की हैं।

'हिन्दुस्तान एण्टिबायोटिक्स' अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का एक अनूठा उदाहरण है। इसका पैनिसिलिन तैयार करने का कारखाना १९५५ में 'संयुक्तराष्ट्रीय बाल-संकट-कोष' (यूनिसेफ) और 'विश्व स्वास्थ्य संघटन' की सहायता से स्थापित गया था।

'यूनिसेफ' ने मशीनें और उपकरण खरीदने के लिए ४१ लाख रुपये की वित्तीय सहायता दी और 'विश्व स्वास्थ्य संघटन' ने १४ लाख २५ हजार रुपये खर्च करके विदेशों से टैक्निशियन सुलभ किये और भारतीय टैक्निशियनों को प्रशिक्षण दिलाया।

स्ट्रैप्टोमाइसिन का कारखाना दवाएं तैयार करने वाली सुप्रसिद्ध अमेरिकी फार्म न्यूजर्सी की 'मर्क एण्ड कम्पनी, इन्कार्पोरेटेड' के तकनीकी सहयोग से १९६२ में स्थापित किया गया। कारखाने के लिए ९२ लाख रुपये का अमेरिकी सामान अमेरिका के निर्यात-आयात बैंक द्वारा भारत-सरकार को दिये गये ऋण से खरीदा गया।

कम्पनी की २० लाख रुपये की लागत से खड़ी की गई अनुसन्धानशाला में अनुसन्धान-कार्यों के अधीक्षक डा० एम० जे० तिरुमलाचार की देखरेख में जो नई रोगाणुनाशक दवाएं तैयार की गई उनमें फफूंदी और प्रोटोजोओं का नाश करने वाली दवाएं हैमाइसिन, एण्टिएमोबिन और डैर्मोस्टेटिन; वनस्पति-रोगों विशेषकर पाला मारे जाने से धान के पौधों को होने वाले रोग को दूर करने वाली दवा औरियोफंगिन; और फसलों तथा पौधों को कीड़ा लगने से होने वाले रोगों का उपचार करने वाली नई रोगाणुनाशक दवा स्ट्रैप्टोसाइक्लिन भी हैं। एक एकड़ फसल पर छिड़काव के लिए केवल ३ ग्राम औरियोफंगिन चाहिए। नई दिल्ली के भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान में किये गये व्यापक परीक्षणों से टमाटर तथा आम जैसे फलों को ३ सप्ताह तक सुरक्षित रखने की दृष्टि से इसकी प्रभावोत्पादकता सिद्ध हो गई है। अधिक उपज वाली चावल की नई दोगली किस्म 'तायचुंग नैटिव-१' को पाले से बचाने के लिए औरियोफंगिन और स्ट्रैप्टोसाइक्लिन दोनों ही बहुत प्रभावकारी हैं। इस किस्म को बोने से सामान्य पैदावार से तिगुनी पैदावार होती है।

पिम्परी की अनुसन्धानशाला में ५४ से अधिक वैज्ञानिक काम करते हैं। इनमें से बहुतों ने अमेरिका में अध्ययन किया है। अनुसन्धानशाल ने पैनिसिलिन की किस्मों में और पैनिसिलिन तथा स्ट्रैप्टोमाइसिन तैयार करने की विधियों में सुधार किया है। इन सुधारों के परिणामस्वरूप अब कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त होने वाली कई चीजों की जगह देशी चीजें काम में लाई जाने लगी हैं। पहले यह कच्चा माल भारी कीमत पर विदेशों से मंगाना पड़ता था।

दस वर्ष पहले पिम्परी में प्रतिवर्ष ६० लाख मैगा यूनिट पैनिसिलिन तैयार की जाती थी, पर अब यह मात्रा बढ़ कर ८ करोड़ ४० लाख मैगा यूनिट हो गई है। (१ मैगा यूनिट में १० लाख यूनिट होते हैं।) १९६५ में

स्ट्रैप्टोमाइसिन का उत्पादन ४० से ८० टन तक वार्षिक हो गया।

'हिन्दुस्तान एण्टिबायोटिक्स' द्वारा अपने २,००० से अधिक कर्मचारियों के लिए एक प्रशिक्षण-कार्यक्रम का संचालन किया जाता है। 'इण्डियन ड्रग्स एण्ड फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड' द्वारा स्थापित अन्य कारखानों को चलाने के लिए भी कम्पनी ने लगभग ३०० टैक्निशियनों को प्रशिक्षण दिया है।

अनुसन्धानशाला कवकशास्त्र, सूक्ष्म-जीवशास्त्र, कार्बनिक-रसायन, जीवरसायन-शास्त्र, जीवाणु-विज्ञान तथा भेषज-विज्ञान में पी-एच० डी० की उपाधि के पाठ्य क्रम के लिए मान्यताप्राप्त स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र भी है।

भारत-सरकार ने कम्पनी की कई विस्तार-योजनाओं की स्वीकृति दे दी है। इन योजनाओं में वह कारखाना भी शामिल है जिसका निर्माण १,००० किलोग्राम हेमाइसिन तैयार करने के लिए किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त पूना की राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला में विकसित विधि द्वारा १२५ टन विटामिन-सी तैयार करने, और १ टन ओरियोफंगिन, १० टन एण्टिएमोबिन तथा २ टन नियोमाइसिन सल्फेट तैयार करने की योजनाएं भी इनमें शामिल हैं। स्ट्रैप्टोमाइसिन तैयार करने की वर्तमान क्षमता को दुगुना कर देने यानी प्रतिवर्ष १६० टन स्ट्रैप्टोमाइसिन तैयार करने पर भी विचार किया जा रहा है।

'हिन्दुस्तान एण्टिबायोटिक्स' के कारण उसके आस-पास जो अन्य कारखाने कायम हो गये हैं, उनमें रबड़ स्टौपर, फास्फरिक एसिड, पट्टी बांधने के काम आने वाली रुई और स्टेनलैस स्टील के उपकरण तैयार करने वाले कारखाने भी हैं। एक छापेखाने के अतिरिक्त कुछ रासायनिक पदार्थों, और गत्ते तथा लकड़ी के डिब्बे तैयार करने के कारखाने भी खोलने की योजना है।

नित्य प्रति के पठन-पाठन में हिन्दी का प्रयोग करें तथा अपने मित्रों से भी वैसा करने के लिये कहें।

१. सर्वे श्राफ इंडिया की द्विशती

१ जनवरी १७६७ को रावर्ट क्लाइव ने मेजर जेम्स रेनेल को बंगाल का प्रमुख सर्वेक्षक नियुक्त किया। इसके पूर्व १७५२ में द ऑविल द्वारा भारत का एक प्रामाणिक मानचित्र प्रस्तुत हो चुका था किन्तु रेनेल को ही भारतीय भूगोल का जनक माना जाता है। १८०२ ई० में लैम्बटन ने वैज्ञानिक सर्वेक्षण की नींव डाली। उसने त्रिकोणमितीय पद्धति से पूरे भारत का सर्वेक्षण प्रारम्भ किया। इसकी परम्परा में सुप्रसिद्ध सर्वेक्षक एवरेस्ट भी हुआ जिसने हिमालय की सबसे ऊँची चोटी का सर्वेक्षण किया। १८१५ ई० में कर्नल मैकेंजी भारत के प्रधान सर्वेक्षक नियुक्त हुये जिन्होंने सम्पूर्ण भारत का स्थलीय सर्वेक्षण न केवल स्थल रचना जानने के लिये वरन् भूमि-कर निर्धारित करने के लिये किया। निस्सन्देह यह बहुत बड़ा कार्य था। सर्वेक्षकों ने बंजर, पर्वत, नदी नाला, दलदल किसी की भी परवाह न करते हुये अपना कार्य किया।

इस दिशा में लगातार प्रगति होती रही। खनिज सम्पति का पता लगाने तथा अन्य इंजीनियरी कार्यों के लिये भी सर्वेक्षण हुये जिसके कारण कोई समरूपता न रह पाई फलत: १९०५ ई० में यह निश्चित हुआ कि एकरूपता को ध्यान में रखकर भारत का स्थल मानचित्र तैयार करने के सम्बन्ध में सर्वेक्षण प्रारम्भ हो। तब अनेक भारतीय सर्वेक्षकों ने हिमालय क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ किया। तभी प्रथम महायुद्ध छिड़ गया जिसके फलस्वरूप सारा काम ठप हो गया। बाद में सर्वेक्षण का कार्य युद्धों के लड़ने के लिए होने लगा।

भारत स्वतन्त्र होने के पश्चात् देश में नदी घाटी योजना, खनिजों का उत्खनन आदि में सर्वेक्षण उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस प्रकार सर्वे आफ इंडिया २०० वर्ष का जीवन काल पूरा कर रहा है।

२. आधुनिक विधियों द्वारा टिटनस रोग पर नियन्त्रण

मनुष्य को ज्ञात समस्त विषों में, सम्भवतः वह विष चिकित्सा विज्ञान के लिए सबसे चिन्ता का विषय बना हुआ है, जो 'क्लोस्ट्रिडियम टिटानी' नामक सूक्ष्म रोगाणु द्वारा उत्पन्न होता है।

यह विष ही टिटनस रोग का कारण है जिसे सामान्य तौर पर 'लॉक जा' या गलाघोंटू रोग कहते हैं।

आधुनिक चिकित्सा के फलस्वरूप टिटनस के प्रसार पर पर्याप्त नियंत्रण प्राप्त कर लिया गया है। सच तो यह है कि यह रोग अब इतना कम हो गया है कि लोग इसकी ओर बहुत कम ध्यान देने लगे हैं। फलस्वरूप हाल के वर्षों में इस रोग के विरुद्ध निरुद्धता का स्तर घट गया है। इस कारण यह खतरा बढ़ गया है कि यह रोग कहीं फिर अपने भयानक रूप में वापिस न आ जाये।

टिटनस अभी भी मनुष्य को होने वाले सबसे खतरनाक रोगों में से एक है। यदि यह रोग पूरी तरह हो जाये तो कोई भी दवा उस पर कारगर नहीं हो सकती। फलस्वरूप इस रोग से पीड़ित ६० प्रतिशत रोगी मौत के शिकार हो जाते हैं। यह विचार अमेरिकन मैडिकल एसोसियेशन के वायुमण्डलीय चिकित्सा विभाग के निदेशक, डा० रेमाण्ड एल० व्हाइट ने व्यक्त किया है।

टिटनस रोग कभी भी न्यूमोनिया या क्षय रोग की तरह व्यापक रूप से घातक नहीं रहा। किन्तु यह रोगियों की मृत्यु को भयानक रूप दे देता है।

इस रोग के घातक बीज उन सभी जगह पाये जाते हैं, जहाँ सभ्यता अपनी छाप छोड़ जाती है। इसके रोगाणु खेत की मिट्टी, नगर की गन्दगी या घर के कूड़े-करकट में उत्पन्न हो जाते हैं। वे अस्पतालों के शल्योपचार कक्ष में सड़कों पर चल कर आये जूतों के साथ पहुँच जाते हैं। कभी-कभी तो वे शल्यक्रिया के लिए प्रयुक्त डस्टिंग पाउडर और टीकों तक में पाये गये हैं।

यद्यपि अब टिटनस रोग अस्पतालों में दिखलाई नहीं पड़ता, फिर भी इसके रोगाणु धूल की तरह ही सर्वत्र पाये जाते हैं।

फिर भी, क्या कारण है कि टिटनस रोग आम तौर पर व्यापक रूप से नहीं फैल पाता ?

चिकित्सक लोग इसके विरुद्ध विशेष सावधानी बरतते हैं। जब भी कभी कोई डाक्टर किसी घाव का निरीक्षण करता है, उसके मन में टिटनस का भय उत्पन्न हो जाता है।

साथ ही, टिटनस रोग केवल उसी दशा में होता है, जब परिस्थितियाँ इसके लिए पूर्ण रूप से अनुकूल हों।

जो सूक्ष्म रोगाणु इसे जन्म देता है, वह शरीर से बहुत ही कमजोर होता है। ताजी हवा की एक सांस उसका सफाया करने के लिए काफी है। यही कारण है कि कुछ चिकित्सक टिटनस के रोगियों को ऐसे कमरों में रखते हैं जहाँ आक्सीजन सामान्य की अपेक्षा अधिक मात्रा में शरीर के तन्तुओं में पहुँच सके।

किन्तु, रोगाणु मनुष्य सहित सभी जीवधारियों की अंतड़ियों में, जहाँ हवा नहीं होती, बड़ी आसानी से बढ़ते हैं। अंतड़ियों के भीतर रोगाणु रोगी के लिए सीधे खतरनाक नहीं होते। खतरा तो इन रोगाणुओं से उत्पन्न बीजों से पैदा होता है, जो पाखाने या मल के साथ जमीन पर पहुँच जाते हैं।

किन्तु अपने को जन्म देने वाले रोगाणुओं की अपेक्षा ये बीज अधिक मजबूत होते हैं। उन पर हवा का कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। वे हवा के बहाव के साथ बहुत दूर तक पहुँच जाते हैं। वे उबलते पानी में एक घण्टे तक जीवित रह सकते हैं। वे रोगी की इन्तजार में ११ वर्ष तक एक ही जगह बैठे रह सकते हैं बशर्ते कि स्थितियाँ उनके अनुकूल हों।

जब टिटनस के बीज शरीर के जीवकोषों में प्रविष्ट हो जाते हैं, तो अपने दुष्प्रभाव की प्रक्रिया प्रारम्भ कर देते हैं। यह कार्य अचानक किसी अंग के कट जाने, उसमें घाव लगने या उसके छिल जाने से सम्पन्न हो सकता है।

घाव से खुल कर रक्त-प्रवाह होने पर बीजाणु आम तौर पर बाहर निकल जाते हैं किन्तु जिस चोट में खून कम निकलता है, या जो चोट किसी चीज के छिदने या उससे कुचलने से लगती है अथवा जब शरीर के मृत तन्तु और धूल आदि घाव के भीतर ही रह जाते हैं तो उसमें टिटनस के रोगाणु पैदा हो कर बढ़ सकते हैं।

इस विष में दो कारक होते हैं और जब रोगाणु अपना घातक प्रभाव डालते हैं तो ये दोनों ही उसके मुख्य अभिकर्ता होते हैं। इनमें से एक को टिटनोलिसिस कहते हैं, टिटनोलिसिस में शरीर की लाल कोशिकाओं को नष्ट करने तथा इस प्रकार रोगाणुओं की द्रुत गति से वृद्धि कराने की क्षमता होती है।

दूसरे का नाम है टिटनसपासमिन। यह भी एक प्रकार का रासायनिक विष होता है। यह शरीर के स्नायु या चेतना केन्द्रों पर आक्रमण करता है जो आक्षेपी तथा मांसपेशियों में अंगग्रहीय कुप्रभाव पैदा करता है। 'टिटनसपासमिन' नामक यह विष इतना तेज होता है कि यदि इसका हल्का सा लेप आलपीन की नोक पर कर दिया जाये तो उससे अनेक लोगों की मृत्यु हो सकती है।

टिटनस टाक्सिन का घातक प्रभाव सबसे पहले सिर और गले की स्नायुओं पर होता है। कुछ विशेष प्रकार की मांसपेशियाँ अंगग्रह के कारण सख्त होने लगती हैं। इसीको टिटनस की बीमारी कहते हैं।

स्नायु-प्रणाली में टाक्सिन के प्रवेश करते ही टिटनस रोग दवाओं की पहुँच के बाहर हो जाता है। इसलिए डाक्टर का असली काम यही है कि वह टाक्सिन को उस सीमा तक पहुँचने न दे।

टिटनस के केवल दो उपचार हैं। एक है एण्टी-टाक्सिन, जिससे शरीर में टिटनस के रोगाणुओं का क्लीवन हो जाता है, और दूसरी है टिटनस टाक्साइड जो वैक्सीन की तरह काम करती है और शरीर को टिटनस के प्रभाव से बचने की शक्ति प्रदान करती है।

फिर भी, एण्टी-टाक्सिन में एक गम्भीर खराबी है। इसे पशुओं की लसी से बनाया जाता है और कुछ मनुष्यों को बिल्कुल अनुकूल नहीं पड़ती। इसलिए एण्टी-टाक्सिन का इस्तेमाल केवल संकटकालीन स्थिति में ही किया जाता है और वह भी तब, जबकि डाक्टर मरीज पर उस लसी की प्रतिक्रिया का परीक्षण कर लेता है।

इसलिए टिटनस टाक्साइड को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इससे शायद ही कभी कोई खतरनाक प्रभाव पड़ता है और जब इसे वैक्सीन की भाँति इंजक्शन द्वारा शरीर में पहुँच दिया जाता है तो वह शरीर के भीतर टिटनस के बीजाणुओं के प्रति एक रक्षा-कवच का सा काम करती है।

द्वितीय विश्व-युद्ध में टिटनस टाक्साइड बड़ी ही कारगर साबित हुई। उस युद्ध में कोई ६,००,००० अमेरिकी घायल हुए थे। उनमें से केवल एक सैनिक को ही टिटनस का रोग हुआ। किन्तु, जापान और जर्मनी की फौजों में स्थिति ठीक इसके विपरीत रही, क्योंकि वहाँ निरन्तर एण्टी-टाक्सिन का सहारा लिया गया। वहाँ हजारों व्यक्ति इसलिए काल के ग्रास हो गए क्योंकि उन्हें समय पर एण्टी-टाक्सिन नहीं दी जा सकी।

●●

स्वागत है उत्तर प्रदेश के इस निर्णय का कि अंग्रेजी अब वैकल्पिक विषय रह जावेगी और हिन्दी प्रमुख विषय का स्थान पाती रहेगी।

१. सड़क को खाने वाले सूक्ष्म जीव

● एक प्रकाशित समाचार के अनुसार पश्चिमी आस्टेलिया के कुछ भागों की डामर की बनी सड़कें अत्यन्त सूक्ष्म कीटों द्वारा खाई जाने के कारण नष्ट हो रही हैं। ये कीट अनुसन्धान के फलस्वरूप "सल्फाविब्रियो डिसल्फरिकन्स" हैं। ये गन्धक को आत्मसात करने वाले सूक्ष्मजीव हैं। ऐसा अनुमान है कि पाँच सेकंड में ही ये जीव अपने भार के बराबर सड़कों के डामर (बिटुमेन) को खा जाते हैं। ये २४ घन्टे में एक से बढ़कर संख्या में १ करोड़ ७० लाख हो जाते हैं।

भारतवासी भी इस ओर सावधान हों।

२. शिक्षा सम्बन्धी आँकड़े

● १९६० ई० में देश में विश्वविद्यालयों की ४५ थी जो १९६६ ई० में बढ़ कर ६५ हो गई। इनमें से १९ विश्वविद्यालय तृतीय पंचवर्षीय योजना में खुले।

●● १९६१-६२ में देश भर में कालेजों की संख्या १७८३ थी जो १९६५-६६ में बढ़कर २५७२ हो गई। इनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या १७ लाख २८ हजार ७७३ है। इसके १० वर्ष पूर्व यह संख्या ७.१२ लाख थी।

●●● १९६५-६६ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने विश्वविद्यालयों को १०.९ करोड़ रुपये का का अनुदान दिया।

३. जानवरों की पहचान

पहिचान के लिए पशुओं पर लोहे की मुहर गर्म कर के दागने की प्रथा अमेरिका में अब कदाचित शीघ्र ही अतीत की कथा मात्र बन जायेगी। अमेरिका में इसके लिए एक सर्वथा नया और क्रान्तिकारी तरीका ईजाद कर लिया गया है। इस तरीके के अन्तर्गत हिमीकरण पद्धति द्वारा पशु को चिन्हित किया जाता है।

लोहे को आग में लाल करके उससे पशु को दागने के बजाय उसी लौह-चिन्ह को उपयोग के पहले शून्य (फारेनहाइट) से भी सत्तर डिग्री नीचे तक शीतित किया जाता है।

अत्यन्त ठण्डे लौह-चिन्ह से पशुओं को दागने की इस रीति का आविष्कार वाशिंगटन स्टेट यूनिवर्सिटी के कृषि कालेज के अनुभवी अनुसन्धानकर्ता डा० आर० कीथ फैरल ने किया है।

इस प्रविधि से पशुओं को न तो पीड़ा महसूस होती है और न पशु-पालक को सापेक्षतया अधिक पैसा ही खर्च करना पड़ता है। इससे पशु की खाल बहुत कम दागी होती है। दागा गया चिन्ह वर्षों तक दूर से देखा जा सकता है। कुछ समय बाद वह चिन्ह उसकी रोमावली का एक अंग बन जाता है। फिर भी गर्म लोहे से दागने वाली पद्धति से यह प्रविधि कुछ कीमती पड़ती है। इसमें कुछ अधिक तैयारियों व उपकरणों की जरूरत भी पड़ती है।

त्रिभाषा सूत्र

शिक्षा मंत्री डा० त्रिगुण सेन ने कहा है कि प्रारम्भिक छात्रों को एक साथ तीन भाषायें पढ़ाने पर उनके कोमल मस्तिष्कों में बल पड़ेगा अत: उन्हें अपनी मातृभाषा में ही शिक्षा प्राप्त करने देना होगा। उन्होंने यह भी कहा है कि उत्तर भारत के छात्र को तमिल या तेलगू पढ़ाने से कोई विशेष लाभ नहीं होगा।

डा० फेरल ने अभी इस प्रविधि से सम्बन्धित अपने प्रयोगों की पूर्ति नहीं की है। यह सही है कि अमेरिका के कुछ क्षेत्रों में इस प्रविधि हो कानूनी रूप दे कर अपना लिया गया है फिर भी डा० फेरले अभी इससे सम्बन्धित कुछ और प्रयोग करना चाहते हैं जिससे कि यह प्रविधि पूर्णता को प्राप्त करने के साथ ही सस्ती भी पड़ सके।

४. उर्वरकों के ६ नये कारखाने और स्थापित होंगे

ऐसा अनुमान है कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक हमारे देश में २४ लाख टन नाइट्रोजनी उर्वरकों की आवश्यकता होगी जिसमें से सिंदरी, नंगल, नवेली, राउरकेला, अलावे तथा बेलागुला (मैसूर) द्वारा ६ लाख टन से भी कम की पूर्ति हो पाती है। यह विचित्र बात है क्योंकि अन्नोत्पादन के लिए उर्वरकों का उत्पादन करना ही होगा। आजकल प्रति एकड़ १ पौंड उर्वरक का प्रयोग करते हुये देश अधिक उत्पादन की कल्पना नहीं कर सकता जबकि जापान १६३ पौंड तथा वेल्जियम में १७७ पौंड तक उर्वरक काम में लाया जाता है। फलतः हमारे देश में उर्वरकों के कारखानों की स्थापना करनी ही होगी। इस दृष्टि से सरकार ने ६ और नवीन उर्वरक कारखाने खोले जाने की योजना बनाई है। ये कारकाने नामरूप, गोरखपुर, दुर्गापुर, कोचीन, मद्रास तथा बरौनी में स्थित होंगे। ऐसा अनुमान है कि इनके खुल जाने से लगभग १०.५ लाख टन उर्वरक तैयार होने लगेगा।

इसके अतिरिक्त प्राइवेट सेक्टर में भी कुछ कारखाने खुलेंगे। उदाहरणार्थ कानपुर (आई० सी आई० प्लांट), गोआ (बिरला अमर प्लांट) तथा मंगलोर (आई० डी० आई० प्लांट) में। इनसे भी लगभग ७ लाख टन उर्वरक तैयार हो सकेगा। इस प्रकार प्राइवेट तथा पब्लिक सेक्टरों द्वारा उर्वरक उत्पादन में समान सहयोग होगा।

१०० वर्ष पूर्व देश की भाषाओं में विचारों की अभिव्यक्ति की कल्पना अब साकार हुई है।

अब समय आ गया है कि हम देश की एक से अधिक भाषायें सीखें और अपने ज्ञान-क्षेत्र को बढ़ावें।

मानद उपाधियों का तिरस्कार

शिक्षा-मंत्री डा० त्रिगुण सेन ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की जानेवाली मानद उपाधि को ठुकरा कर ऐसे महानुभावों को सोचने के लिये बाध्य किया है जो या तो इसके पहले उपाधि ग्रहण कर चुके हैं या अपने मन में उपाधि पाने के लिये किञ्चित्मात्र भी इच्छुक हैं।

आजकल ये उपाधियाँ किस उद्देश्य को सामने रखकर प्रदान की जाती हैं यह निश्चित कर पाना कठिन है किन्तु जब एक ही विश्वविद्यालय द्वारा राजनीतिज्ञ, समाजसेवी तथा उच्चकोटि के विद्वान को एक जैसी उपाधि दी जाती है तो यह कल्पना करना पड़ता है कि सम्भवतः विश्वविद्यालय के अधिकारी या तो ठीक से उन व्यक्तियों को आँकते नहीं या मात्र दिखावा करते हैं। यदि इसे चापलूसी करना कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी अन्यथा कुछ ऐसे विद्वान, साहित्यकार, वैज्ञानिक आदि सदैव से छूटते रहे हैं जिन्हें किसी न किसी उपाधि से विभूषित किया जाना चाहिए था।

यहाँ हम उपाधि दिये जाने का समर्थन न करके यही कहना चाहेंगे कि प्रारम्भ से ही यह कार्य किसी वैज्ञानिक भित्ति पर आधारित नहीं रहा अन्यथा डी० लिट्, डाक्टर आफ ला, डाक्टर आफ साइंस की उपाधियों का बाँटना कहाँ तक न्याय-संगत है जबकि इन्हीं उपाधियों को प्राप्त करने के लिये विश्वविद्यालयों में रहकर लोगों को अनथक परिश्रम एवं योग्यता प्राप्त करनी होती है और फीस देनी पड़ती है। बिना श्रम के ही उपाधियों का वितरण मानद उपाधियों की निरर्थकता का सूचक है साथ ही ऐसी उपाधियों का योग्यता के आधार पर न प्रदान किया जाना भी स्वतःसिद्ध है। अतः डा० सेन का यह तर्क कि ऐसी उपाधियाँ योग्य व्यक्ति एवं सुपात्र को ही प्रदान की जायँ, पूर्णतः ग्राह्य है।

यदि विश्वविद्यालय दीक्षान्त समारोहों पर ऐसी उपाधियों का वितरण गर्व मानते हों तो उन्हें चाहिए कि वास्तव में योग्य एवं अधिकारी व्यक्तियों को ही ये उपाधियाँ प्रदान की जायं। यदि जनता ही उनके चुनाव का उपहास करे तो फिर यह अत्यन्त लज्जा की बात होगी। इससे अच्छा तो यही होगा कि सभी प्रकार की मानद उपाधियाँ बन्द कर दी जावें।

ऐसी उपाधियों के कारण कुछ भ्रान्तियाँ होती हैं। कुछ उपाधि प्राप्त व्यक्ति अपनी उपाधियों को नाम के पूर्व प्रयुक्त भी करने लगते हैं और साहित्यिक एवं बौद्धिक स्तर वे अग्रणी बनना चाहते हैं। तब यदि अपने श्रम से अर्जित उपाधिधारी व्यक्ति उनसे ईर्ष्या करें तो इसमें बेजा की बात क्या ?

प्रवासी वैज्ञानिकों के प्रति सरकारी रुख

भारतीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद के महानिदेशक डा० आत्माराम ने विदेशों में काम करने वाले वैज्ञानिकों को जो चेतावनी दी है उससे वैज्ञानिक क्षेत्र में खलबली हुये बिना नहीं रहेगी। डा० आत्माराम ने यह स्पष्ट कहा है कि भारत ऐसी स्थिति में नहीं है कि वह अपने समस्त प्रवासी वैज्ञानिकों को सुविधायें प्रदान कर सके और उन्हें वापस बुला सके। भारत केवल ऐसे वैज्ञानिकों का स्वागत कर सकेगा जिनके क्षेत्र से सम्बन्धित प्रयोगशाला-सुविधायें उपलब्ध हैं और जिनकी खोजों से भारत को तुरन्त लाभ हो

सकेगा। भारत ऐसे वैज्ञानिकों को जिनका कार्य विदेशों में प्रगति पर है और जिनके कार्य के लिये देश में सुविधायें प्राप्त नहीं हैं, कदापि बुलाना नहीं चाहेगा। यही नहीं, भारत अपना धन ऐसे अनुसन्धानों पर भी व्यय नहीं करना चाहेगा जिनका तुरन्त कोई उपयोग न किया जा सके।

फलतः ऐसे वैज्ञानिकों को जो मूलभूत अनुसन्धान में व्यस्त हैं निराशा प्रतीत होगी। यही नहीं, डा० आत्माराम के विचारों से देश के वैज्ञानिकों में भी असन्तोष की लहर फैल सकती है क्योंकि विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान करने वाले अधिकांश अध्यापक मूलभूत अनुसन्धानों में ही व्यस्त हैं। यदि उनके अनुसन्धानों के लिये आवश्यक वित्तीय सहायता सरकार द्वारा न प्रदान की गई तो उनका सारा काम ठप्प हो जावेगा। तब शायद इतने भी वैज्ञानिक जो प्रेरणा एवं जागृति प्राप्त कर आगे कार्य करने को उद्यत होते हैं न उत्पन्न हो सकें। अतः सरकार को इस दिशा में सोच समझ कर अपनी नीति का निर्धारण करना चाहिए।

जय हिन्द ● जय हिन्दी ● जय नागरी ●

विज्ञान

सितम्बर १९६७
भाग १०४

विषय-सूची

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

प्रति अंक ४० पैसे
वार्षिक ४ रुपये

सम्पादक- डा० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजनात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ३।५

भाग १०४ | भाद्रपद २०२४ विक्र०, १८८९ शक | संख्या ६
सितम्बर १९६७

जब निर्जीव पदार्थ सजीव हो उठता है

● डा० कृष्ण बहादुर

मानव सभ्यता के विकास के समय से ही प्राचीन बुद्धि-जीवियों के मस्तिष्क में यह विचार उठे कि पृथ्वी पर सर्वप्रथम जीवन का प्रादुर्भाव कैसे हुआ । हम यह जानते हैं कि विकास के फलस्वरूप ही एक कोशिकीय जीवों से जटिल बहुकोशिकीय जीवों की उत्पत्ति हुई । परन्तु प्रश्न यह उठता है कि सर्वप्रथम निर्जीव पदार्थों से जीवित प्रक्रमों का संश्लेषण हुआ कैसे ? विश्व के सैकड़ों वैज्ञानिक इस प्रश्न का, **निर्जीव पदार्थों से जीव कैसे बना** हल करने के उद्देश्य से अनवरत कार्य कर रहे हैं ।

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व अरस्तू नामक एक दार्शनिक थे । उन्होंने जीवन के उत्पत्ति सम्बन्धी स्वतो-उत्पत्ति वाद का प्रतिपादन किया था । इस वाद के अनुसार पृथ्वी पर जीवन, निर्जीव पदार्थ से स्वतः संश्लेषित हुआ । यह विचार इस तथ्य पर आधारित था कि कार्बनिक पदार्थ के सड़ने या विघटन से सूक्ष्मजीवों एवं कृमियों का जन्म होता है । उस समय न तो सूक्ष्म-दर्शी यंत्र ही था और न ही निर्जीवीकरण का कोई परिचय प्राप्त था । जैसे ही सूक्ष्मदर्शी यंत्र का निर्माण हुआ तथा निर्जर्मीकरण विधि का ज्ञान हुआ तो यह पता चला कि जीवों के अन्डे एवं कृमि समस्त विघटित होने वाले कार्बनिक पदार्थों में पहले से ही उपस्थित रहते हैं तथा अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर वे अंकुरित हो उठते हैं । यदि कार्बनिक पदार्थ का निर्जर्मीकरण कर दिया जाय और इसे अनिश्चित काल तक के लिए ही क्यों न रख दिया जाय फिर भी इसमें कृमि एवं जीवाणुओं का प्रादुर्भाव नहीं होगा । इस सम्बन्ध में **पास्तुर** ने यह निर्णय किया कि जीवन की उत्पत्ति केवल सजीव पदार्थों से ही हुई ।

यद्यपि पास्तुर ने स्वतोउपत्ति वाद का अन्त कर दिया परन्तु वे यह स्पष्ट न कर सके कि सर्वप्रथम जीव की उत्पत्ति कैसे हुई ?

इसके पश्चात् **आर्हेनियस** तथा **लिपमैन** जैसे वैज्ञा-निकों ने प्रतिपादन किया कि पृथ्वी पर जीव किन्हीं ग्रहों से आया । यह तभी मान्य हो सकता है जब यह सिद्ध हो जाय कि अन्य ग्रहों से आये कृमि यहाँ सुरक्षित कैसे रहे और दूसरे यह ज्ञात होना चाहिए कि एक ग्रह से दूसरे ग्रह तक की यात्रा में वे जीवित कैसे रह सके ? यह कहा जा सकता है कि ज्वालामुखी के उद्गार से चट्टानों के टुकड़े भूगर्भ से ऊपर आ गये और गुरुत्वा-कर्षण के चपेट से बचकर वे पुनः मूल स्थान तक नहीं

पहुँच पाये। इसके अतिरिक्त यह सिद्ध करना भी कठिन है कि क्या ये कृमि या जीवाणु पृथ्वी पर विकिरण तथा सूर्य किरणों के कुप्रभाव के उपरान्त भी जीवित रह सके?

कुछ भी हो, यदि यह भी ज्ञात हो जाय कि पृथ्वी पर जीवन का प्रादुर्भाव संदूषण द्वारा ही हुआ फिर भी जीवन की उत्पत्ति का यह प्रश्न पूर्णरूप से हल नहीं हो पाता। हम यह जानने की इच्छा रखते हैं कि निर्जीव पदार्थों से जीवन का संश्लेषण हुआ तो कैसे जबकि यह निश्चित है कि संश्लेषण हुआ। हाँ, यह हो सकता है कि चाहे यह पृथ्वी के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रह पर ही क्यों न हुआ हो।

इसी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मिचेल, इंगल, हक्सले तथा हाल्डेन जैसे धुरन्धर वैज्ञानिकों ने आणविक नियमों के द्वारा जीवनोत्पत्ति को स्पष्ट करने का प्रयास किया। रूस के वैज्ञानिक प्रो० ए० जे० ओपरिन ने इसे एक निश्चित रूप दे कर "आणविक विकासवाद" नामक पुस्तक प्रकाशित की।

इस वाद के अनुसार प्राथमिक जीवधारी अणुओं का संश्लेषण प्राकृतिक दशाओं में हुआ।

इस संश्लेषण में पहले ऐसे अणु जो जीवित प्रक्रमों के लिए उपयुक्त हैं वे, उन अणुओं से निर्मित हुए जो जीवन के लिये अपेक्षतया कम उपयुक्त थे। यह परिवर्तन समय व्यतीत होने तथा अणुओं के विकास के साथ-साथ हुआ। इन जीवनोपयुक्त अणुओं के संश्लेषण के पश्चात् इनका समुच्चयन अथवा संगठन हुआ जिसमें सभी जैविक गुण विद्यमान थे।

उपर्युक्त संश्लेषण से प्राप्त जैविक पदार्थों के ज्ञान के पश्चात् ही, अमिनो अम्ल, पेप्टाइड न्यूक्लिक अम्ल, तथा क्षार एवं अन्य जैविक पदार्थों के निर्माण की प्राकृतिक प्रविधियों का अध्ययन आरम्भ किया गया। इस क्षेत्र में मिलर का विद्युत-विसर्जन द्वारा अमिनो अम्लों का संश्लेषण, बहादुर का जलीय मिश्रण में अमिनो अम्लों एवं पेप्टाइडों का प्रकाशरासायनिक संश्लेषण विषयक अध्ययन, फॉक्स का पेप्टाइडों का तापीय संश्लेषण तथा ओरोस एवं पोन्नम पेरुमा के न्यूक्लियोटाइड तथा न्यूक्लिक-अम्ल-क्षारों के अध्ययन महत्वपूर्ण हैं।

उपर्युक्त अणुओं के प्राकृतिक अवस्थाओं में संश्लेषण के इस प्रश्न ने ही 'जीवन के विकास' की समस्या प्रस्तुत की है। किन-किन कारकों के द्वारा अणुओं का इस प्रकार विशेष संयोग हुआ कि उनसे जैविक गुणों वाले पदार्थों का प्रादुर्भाव हुआ?

विगत कुछ वर्षों से कोशिका रूपी संरचना के कुछ पदार्थों के संश्लेषण में प्रगति हुई है। प्रो० ऑपेरिन एक प्रकार के कोएसर्वेट (Coacervate) नामक कणों पर कार्य कर रहे हैं। ऑपेरिन का विश्वास है कि जीवों का विकास इन्हीं कणों से हुआ है। वे यह अध्ययन का रहे हैं कि जब कोई पदार्थ इन कणों में परिणत होता है तो उसके गुणों में किस प्रकार परिवर्तन होता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के डा० फॉक्स इसी विषय से सम्बन्धित, 'सूक्ष्मगोला' (माइक्रोस्फीयर) नामक कणों पर कार्यरत हैं। ये अणु तापीय पेप्टाइड को एक मिनट तक जल में उबालकर, मिश्रण को ठंडा करने से प्राप्त होते हैं। इस विधि से मिश्रण में असंख्य चक्राकार अणु निर्मित हो जाते हैं। डा० फॉक्स इन्हीं अणुओं में विभिन्न प्रकार के रसायन का प्रयोग करके कोशिका के यांत्रिक प्रारूप संश्लेषित करने का प्रयास कर रहे हैं।

सन् १९६३ में डा० बहादुर तथा सहयोगियों ने प्रकाश रासायनिकतः संश्लेषित अमिनो अम्लों तथा पेप्टाइडों एवं तापीय पेप्टाइड अमोनियम मालिब्डेट जटिल द्वारा तथा अन्य पदार्थों से 'जीवाणु' नामक जीवन के अणुओं का निर्माण किया। ये कण वृद्धि करते हैं, जनन करते हैं तथा गतिशील होते हैं। यदि इन्हें अमिनो अम्लों एवं पेप्टाइडों से प्राप्त किया जाय तो ये आधुनिक कोशिका से रासायनिक संरचना में बहुत कुछ समान होते हैं। इन्हें कार्बनिक रंजकों से

सुगमता से रंजित किया जा सकता है, तथा इनकी संरचना अत्यन्त जटिल होती है। यद्यपि ये 'जीवाणु' परिचित कोशिकाएँ नहीं हैं परन्तु इन्हें आधुनिक कोशिका-जीवन का स्रोत कहा जा सकता है। विकास के पश्चात् ये ज्ञात कोशिका के रूप में आ जाते हैं।

जीवन की उत्पत्ति कैसे हुई? इस समस्या के समाधान में **'जीवाणु'** का महत्वपूर्ण स्थान है। इंगलैंड के एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक **डा० एम० एच० ब्रिग्स** ने अपनी प्रयोगशाला में **'जीवाणु'** उत्पादन सम्बन्धी कार्य को दुहराया है। उन्होंने सन् १९६५ की 'स्पेश लाइट (Space light)' पत्रिका के अगस्त अंक में 'जीवाणु' की पुष्टि की व्याख्या प्रकाशित की है।

जैविक पदार्थों का निर्जीव पदार्थों से निर्माण किस प्रकार हुआ? डा० बहादुर के मतानुसार पदार्थों में द्विगुणन एवं अनुकूलन का गुण होता है। इस प्रकार अनुकूलन परिस्थितिवों में पहले से विद्यमान विभिन्न संरचनाओं का निर्माण, अन्य संश्लेष्य सम्भाव्य संरचनाओं से अधिक होता है। इसे क्वांटम यान्त्रिकी संस्पंदन अन्तर्क्रिया के अनुसार स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है। एक बार प्राप्त समान पदार्थ का प्रक्रम अनुकूलन का गुण प्रदर्शित करता है तथा अनुकूलन का यह गुण **ली चैटिलियर** का सिद्धान्त ही तो है जिससे विज्ञान के सभी विद्यार्थी भली-भाँति परिचित हैं।

'न्यूक्लिक अम्ल एवं वायरस' जीवन की उत्पत्ति के स्रोत हैं' यह प्राचीन विचार अब अस्वीकृत कर दिया गया है। **ब्रूम** के अनुसार प्राचीन जीवित पदार्थों के लगभग सभी कार्य उनमें संगठित अवयवों के भौतिकी-रासायनिक गुणों के फलस्वरूप सम्पन्न होते थे।

जनवरी सन् १९६७ में एक अंग्रेज वैज्ञानिक **प्रो० जे० डी० बेक्सनाल** ने बताया है कि जीवन परमाणु इलेक्ट्रॉन के स्वत: ज्ञान की अन्तर्शक्ति का एक आंशिक, नियमित, प्रगतिशील, बहुरूपिया तथा सामयिक अन्त:सक्रिय रूप है।

वैज्ञानिक, कार्बनिक कोन्ड्राइट के रूप में विद्यमान पदार्थों का अध्ययन कर रहे हैं तथा **यूरे और नेगौ ने** उन्हें Organised तत्वों का नाम दिया है। ये वाह्य-स्थलीय जीवन के रूप हैं। साथ ही साथ इसी प्रकार के तमाम पदार्थों को स्थलीय खनिजों में भी पाया गया है। वैज्ञानिक इन्हीं कोण्ड्राइट के कार्बनिक अवयवों के विश्लेषण में व्यस्त हैं और यह स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं कि ये कोन्ड्राइट जैव हैं अथवा अजैव हैं। ऐसी आशा की जाती है कि उपर्युक्त अध्ययनों के फलस्वरूप चन्द्रमा पर विद्यमान **जीवन-रूप** का कुछ पता लग सकेगा यदि यह ज्ञात हो जाय कि ये तत्व चन्द्रमा की सतह पर उपस्थित शैलों में विद्यमान हैं। ऐसा अनुमान है कि इस वर्ष के अन्त तक चन्द्रमा पर उपस्थित इन शैलों को हम अध्ययन के लिए प्राप्त कर सकेंगे।

पेड़-पौधों पर संगीत का प्रभाव

● श्याम मनोहर व्यास

आपने सुना होगा कि पूर्व काल में तानसेन व बैजू बावरा की संगीत की स्वर-लहरी को सुन मृगों का झुण्ड वन से भाग कर उनके इर्द-गिर्द एकत्रित हो जाते थे। जब तानसेन दीपक राग निकालता तो दीपक अपने आप प्रज्ज्वलित हो उठता। वह जब मल्हार राग गाता तो आसमान में अपने आप मेघ प्रकट हो जाते और वर्षा होने लगती; संगीत की मधुर ध्वनि को सुन सूखे पेड़ हरे-भरे हो जाते। यद्यपि इस वैज्ञानिक युग में ये बातें कपोल-कल्पित ही मानी जा सकती हैं पर भारतीय वैज्ञानिकों ने पेड़-पौधों पर संगीत के प्रभाव के जो प्रयोग किये हैं उन्हें देख कर हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त तथ्यों में थोड़ी बहुत सचाई अवश्य है! संगीत की स्वर-लहरी का पशु-जगत् के समान पेड़-पौधों पर भी विचित्र प्रभाव होता है!

अन्नमलय विश्वविद्यालय के वनस्पति-विभाग के अध्यक्ष डा० टी० सी० एन० सिंह ने पौधों पर ध्वनि के प्रभाव के सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये हैं। डा० सिंह अपने परीक्षण सन् १९५० से ही कर रहे हैं। एक निष्कर्ष उन्होंने यह निकाला कि—

"ग्रामोफोन के संगीत से पत्तियों के "क्लोरोप्लास्ट" नामक तत्व में अद्भुत परिवर्त्तन होता है!"

पौधों पर बाजों व तार वाले वाद्य-यन्त्रों के प्रभाव को देखने के पश्चात् उन्होंने उन पर संगीत का प्रभाव देखना चाहा।

पहले पुरुष के संगीत का प्रभाव देखा गया पर उसमें विशेष उल्लेखनीय बात नहीं हुई! पर जब महिला-संगीत का पेड़ पौधों पर प्रभाव देखा गया तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि पेड़-पौधों पर महिला-संगीत का जादू जैसा प्रभाव होता है।

इसका कारण यह था कि महिला का स्वर अधिक कम्पनांक लिये हुये होता है।

जहाँ एक ओर पेड़ पौधों पर संगीत और वाद्य यन्त्रों का आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है वहाँ दूसरी ओर किसी विशेष प्रकार के संगीत से उन पर प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ सकता है।

प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि कुछ रागों से पौधे मुरझा जाते हैं और सूख तक जाते हैं।

डा० सिंह ने स्पष्ट किया है कि संगीत या वाद्यों से जो ध्वनि-लहरें निकलती हैं वे पौधों की कोष दीवारों पर टकराती हैं और उसके कोष के केन्द्र में उत्तेजना पैदा होती है जिसके फलस्वरूप इस प्रतिक्रिया से पौधे के विकास में सहायता मिलती है।

ध्वनि के प्रभाव से पैदावार में ५०% की वृद्धि सम्भव है। शिवपुरी गाँव में तम्बाकू के पौधे पर इसका प्रयोग किया गया। पैदावार ५०% बढ़ गई। सूर्यमुखी का पौधा आपने अवश्य देखा होगा। उसका मुख सदैव सूर्य की ओर ही रहता है। छुई-मुई का पौधा भी विचित्र है।

जब उसे हम छूते हैं तो पत्तियाँ अपने आप बंद होने लगती हैं।

पौधे अपने मित्रों को भी पहचानते हैं इसका प्रमाण अमेरिका के एक वैज्ञानिक ने प्रस्तुत किया है। एक पौधे को जब वे रोज छूते थे तो पहले उसकी पत्तियों बंद हो जाती थीं फिर अपने आप खुलने लगतीं। उनके एक अन्य मित्र ने एक दिन उस पौधे को छुआ तो उसकी पत्तियाँ बंद होगई पर खुली नहीं। वैज्ञानिक के छूने पर ही वे खुलीं मानों पौधा अपने मित्र को पहचान गया हो।

[शेषांश पृष्ठ १५ पर]

बहुप्रयोजनीय सोयाबीन

● सूरजभान, अवधेश नारायन सिंह एवं राम प्रसाद

सोयाबीन एक महत्वपूर्ण दलहनी फसल है, जिसकी खेती चीन, जापान, कोरिया चैकोस्लोवाकिया, मंगोलिया आदि देशों में शताब्दियों से होती चली आ रही है, तथा कुछ देशों में तो आज भी इसकी खेती एक प्रमुख फसल के रूप में की जाती है। आज विश्व में सोयाबीन के प्रमुख उत्पादक देशों में अमेरिका का प्रथम स्थान है जहाँ लगभग २२० लाख हैक्टेयर में इसकी खेती की जाती है तथा प्रतिवर्ष भारी मात्रा में सोयाबीन का तेल व सोयाबीन से बने अन्य औद्योगिक पदार्थ विदेशों को भेजे जाते हैं। परंतु हमारे देश में इसकी उपयोगिता, गुणों तथा खेती के सुधरे तरीकों के बारे में किसान अभी तक अनभिज्ञ हैं। यह एक ऐसी फसल है जो हमारे औद्योगिक विकास एवं खाद्य समस्या के समाधान में महत्वपूर्ण योग दे सकती है। इसकी खेती से किसानों को न केवल खाने के लिये पौष्टिक दाना एवं पशुओं के लिये पौष्टिक चारा ही मिलेगा बल्कि उन्हें अधिक आर्थिक लाभ भी होगा और साथ में उनकी भूमि की उर्वराशक्ति भी सुधरेगी। इसके अतिरिक्त अगर हमारी आवश्यकता भर सोयाबीन का उत्पादन अपने देश में ही होने लगे और विदेशों से इसका तेल एवं इससे बनी अन्य वस्तुयें न मँगानी पड़ें तो प्रतिवर्ष भारी मात्रा में हमारी विदेशी मुद्रा की बचत हो सकती है। सोयाबीन की खेती करना निम्न-लिखित उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से आवश्यक है।

पौष्टिक आहार

सोयाबीन एक उत्तम एवं पौष्टिक खाद्य पदार्थ है। इसमें लगभग सभी तत्व एक अच्छी मात्रा में पाये जाते हैं जो शरीर के विभिन्न अवयवों के समुचित विकास एवं शक्ति के लिये आवश्यक हैं। प्रोटीन एवं वसा में धनी होने के कारण इसे गरीब लोगों का माँस भी कहा जाता है। इसकी पोषकता निम्नलिखित तालिका से देखी जा सकती है कि किस प्रकार सोयाबीन अन्य अनाजों की तुलना में अधिक पौष्टिक एवं शक्ति वर्धक है।

कुछ मुख्य अनाजों से सोयाबीन की तुलना

अनाज	प्रोटीन %	चिकनाई %	कार्बोहाइड्रेट %	कैल्शियम %	फास्फोरस %	लोहा मिग्राम०	कैलोरी प्रति १०० ग्राम०
गेहूँ	१२·१	१·७	७२·२	०·०४	०·३२	७·३	३५३
चावल	६·७	०·७०	७७·४	०·०१	०·१६	१·६	३४३
ज्वार	१०·४	१·६	७४·०	०·०३	०·२८	६·२	३५५
अरहर की दाल	२२·३	१·७	५७·२	०·१४	०·२६	८·८	३३३
सोयाबीन	४३·२	१६·५	२०·६	०·२४	०·६६	११·८	४३२

उपर्युक्त तालिका से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि केवल कार्बोहाइड्रेट को छोड़कर बाकी अन्य तत्वों में सोयाबीन सभी अनाजों से उत्तम है। कार्बोहाइड्रेट की कमी से यह मधुमेह के रोगियों को तथा मोटे आदमियों के लिये बहुत ही लाभप्रद साबित हुआ है। इसके अतिरिक्त सोया-बीन में विटामिन ए (६१० आई० यू०) तथा बी (३०० आई० यू०) अच्छी मात्रा में पाये जाने के कारण इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। सोयाबीन का प्रोटीन जैवीय गुणों की दृष्टि से बहुत उत्तम होता है तथा कुल प्रोटीन का लगभग ९० प्रतिशत अंश पाचक

होता है। प्रोटीन की दृष्टि से एक किलो सोयाबीन लगभग २½ किलो माँस, या १२० अन्डे या २० क्वार्ट दूध के बराबर होता है।

खाने के रूप में सोयाबीन का उपभोग विभिन्न प्रकार से किया जाता है। सोयाबीन को पीसकर इसके आटे की रोटियाँ बनाई जाती हैं जो बड़ी पौष्टिक एवं सुपाच्य होती हैं। चूँकि इसका स्वाद कुछ अजीब सा लगता है तथा प्रोटीन एवं चर्बी का अंश अधिक होने से यह अधिक मात्रा में खा लेने से अपच भी हो जाता है अत: यह उत्तम रहता है कि इसके आटे को गेहूँ जौ या ज्वार के आटे के साथ मिलाकर खाया जाय, जिससे इसका स्वाद भी अच्छा हो जाता है तथा कुपच भी नहीं होने पाता। मूँग या उड़द की तरह सोयाबीन की दाल भी बड़ी स्वादिष्ट एवं पौष्टिक होती है। सोयाबीन के आटे से चाकलेट, बिस्कुट तथा डबलरोटी भी बनाई जाती हैं। अमेरिका तथा योरपीय देशों में सोयाबीन के दानों को भूनकर इसके फूले (फ्लेक्स) भी खाये जाते हैं।

सोयाबीन से तेल भी निकाला जाता है। यह तेल खाने के काम में लाया जाता है। वनस्पति घी बनाने में भी इसके तेल का उपयोग बड़े पैमाने पर किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसके तेल से लगभग ५० प्रकार के खाद्य पदार्थ तैयार किये जाते हैं। सोयाबीन का दूध भी बनाया जाता है। यद्यपि यह गाय के दूध की तुलना में कुछ कम पोषक होता है, परन्तु अगर इसमें, दुग्धशर्करा, कैल्शियम तथा चिकनाई का अंश बढ़ा दिया जाय तो यह पौष्टिकता की दृष्टि से गाय के दूध जैसा हो जाता है। दूध बनाने के लिये सोयाबीन के दाने पानी में भिगो देते हैं। कुछ घंटों बाद इनका छिलका उतार कर महीन रूप में पीसकर लुग्दी बना ली जाती है तथा इस लुग्दी को इसके दुगने जल में घोल लिया जाता है। इस दूध से दही भी बनाया जा सकता है। इसके लिये सोयाबीन के दूध में गाय के दूध का दही अथवा थोड़ी मात्रा में ऐसीटिक अम्ल डाल दी जाती है। इस दही का चीन, जापान, फिलीपाइन तथा मंगोलिया में तो प्रियभोजन के रूप में उपयोग होता है। सोयाबीन के दूध तथा दही से अन्य पदार्थ एवं मिठाई भी तैयार की जा सकती हैं।

औद्योगिक विकास

सोयाबीन में प्रोटीन, चर्बी, लैसीथिन तथा विटामिन की अच्छी मात्रा होने के कारण औद्योगिक क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की खाने-पीने की चीजें चाकलेट, बिस्कुट, डबलरोटी, रोजमर्रा में काम आने वाली चीजें, रंग, वार्निस, प्लास्टिक लिनोलियम, रबर, टैक्टाइल, स्याही तथा दवाओं के निर्माण एवं विकास में एक विशेष महत्व रखता है। संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशों में जहाँ सोयाबीन की खेती बहुत बड़े पैमाने पर की जाती है इन सब चीजों का निर्माण बड़े पैमाने पर किया जाता है तथा दूसरे देशों को यह सब चीजें भेजकर भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा कमाते हैं।

(i) **प्लास्टिक :** सोयाबीन के अन्दर पाये जाने वाले प्रोटीन से प्लास्टिक उद्योग को बहुत मदद मिली है। इनके द्वारा बनाये जाने वाला प्लास्टिक मजबूत तथा अच्छे रंग का होने के साथ-साथ काफी सस्ता भी पड़ता है। यही कारण है कि जिन देशों में सोयाबीन अधिक मात्रा में पैदा होता है, वहाँ से बहुत सा प्लास्टिक विदेशों को भेजा जाता है।

(ii) **रंग**—सोयाबीन प्रोटीन का उपयोग प्लास्टिक की भाँति रंग बनाने में भी किया जाता है। पुस्तकों में इस बात के बहुत से प्रमाण मिलते हैं कि जबसे रंग कला विकास हुआ, तभी से सोयाबीन प्रोटीन का उपयोग भी रंग बनाने में हुआ।

(iii) **टैक्सटाइल फाइबर या कृत्रिम रेशा**—अमेरिका के फेडेरल ट्रेड कमीशन ने सोयाबीन प्रोटीन के रेशों से बनाये जाने वाले कपड़े को 'एजलान' के रूप में स्वीकार किया है। एजलान का अमेरिका में वही महत्व है जो यहाँ रेयान, नाइलान, टेरीलीन तथा

इसी प्रकार के अन्य कपड़ों का है। 'एजलान' को ऊन, कपास, रेयन या नाइलोन के साथ मिश्रण (मिश्रण एजलान) से भी बहुत प्रकार के कीमती, सुन्दर एवं टिकाऊ वस्त्र बनाये जाते हैं तथा विशेष रूप से इन मिश्रणों का उपयोग कम्बल, कालीन तथा हैट आदि के बनाने में किया जाता है।

(iv) **स्याही**—छापने वाली स्याही के उद्योगों में भी सोयाबीन प्रोटीन का उपयोग सुगमतापूर्वक किया जाता है। इसके द्वारा बनाई जाने वाली स्याही काफ़ी चमकीली, टिकाऊ तथा सस्ती होती हैं।

(v) **लैसीथिन**—सोयाबीन लैसीथिन एक तरह से खाद्य उद्योगों की आधार-शिला है क्योंकि बिस्कुट, चाकलेट, पैस्ट्री से लेकर केक, आइसक्रीम तक इनका पूरा-पूरा उपयोग होता है। इसके द्वारा बनाई गई खाद्य वस्तुयें स्वादिष्ट ही नहीं बल्कि काफी पौष्टिक भी होती हैं, अतएव बच्चों एवं मरीजों आदि के लिये वरदान सिद्ध हुई हैं। मधुमेह के मरीजों के लिये खास तौर से सोयाबीन खाद्य पदार्थ ही डाक्टरों द्वारा बताये जाते हैं। केवल शाकाहारी पदार्थ ही नहीं वरन् मांसाहारी भोजन में भी सोयाबीन मुख्य स्थान रखता है। सोया-बीन में मिलाकर पकाया गया माँस बहुत स्वादिष्ट एवं अच्छी किस्म का होता है। विभिन्न दवाओं के अति-रिक्त इसका उपयोग टानिक, मलहम तथा विटामिन की गोलियाँ आदि के बनाने में होता है।

रबर वार्निश तथा लिनोलियम—सोयाबीन के तेल का उपयोग रबर तथा वार्निश उद्योगों में बहुत बड़े पैमाने पर किया जाता है। इससे विभिन्न प्रकार के वर्निश जैसे कागजी वार्निश, दीवाल वार्निश तथा और अच्छी किस्मों की वार्निश बनाई जाती है, जिनका उप-योग, कागज लकड़ी, कपड़े आदि के अतिरिक्त दीवालों पर रंगने के काम में होता है। सोयाबीन तेल द्वारा बनाया गया रबर भी काफी मजबूत, सुन्दर और टिकाऊ होता है। फर्श पर लगाये जाने वाला लिनोलियम भी सोयाबीन तेल से बनाया जाता है।

मोमबत्ती—इनके निर्माण में भी सोयाबीन के तेल का उपयोग बहुतायत से होता है।

उपर्युक्त पदार्थों के अतिरिक्त सोयाबीन अन्य कई और औद्योगिक पदार्थ जैसे कि गोंद, खादें, सोयाबीन तेल से बनस्पति घी, लुब्रीकेटिंग आयल, साबुन तथा कीटाणु नाशक दवायें आदि-आदि चीजें बनायी जाती हैं।

पशुओं के लिये पौष्टिक चारा एवं दाना

सोयाबीन का चारा बहुत ही पौष्टिक होता है। इसमें पाचक प्रोटीन लगभग ११ प्रतिशत होती है। दूसरी अनाज वाली फसलों के साथ मिलाकर चारा अत्यन्त स्वादिष्ट एवं पौष्टिक बन जाता है। अमेरिका में खास तौर से इसके चारे को दूध देने वाली गायों का खिलाया जाता है जिससे दूध काफी बढ़ जाता है। चारे के अतिरिक्त इसका दाना एवं खली भी पशुओं, सुअरों तथा मुर्गियों को खिलाई जाती है। हमारे यहाँ भी चारे के लिये सोयाबीन की खेती अकेली या किसी खरीफ मौसम के चारे जैसे कि मक्का, ज्वार आदि के साथ मिलाकर सफलतापूर्वक की जा सकती है। चारे के लिये बोने पर दो बातें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं (१) बीजमात्रा अधिक रक्खी जाय जिससे प्रति हैक्टे-यर अधिक से अधिक पौधे प्राप्त किये जा सकें (२) सदा देर से पकने वाली जाति बोयी जाय जिससे कि पैदावार अच्छी हो। जब फसल में अच्छी तरह फली आ जायँ तभी चारे के लिये कटाई करनी चाहिये। जल्दी काटा हुआ चारा न तो अधिक स्वादिष्ट एवं पौष्टिक होता है और न पैदावार ही अच्छी होती है। काटने के बाद इसे अच्छी तरह सुखा लेना चाहिये। सोयाबीन का चारा जानवरों को अकेले ही नहीं खिलाना चाहिये बल्कि भूसे वगैरह के साथ १ : ४ के अनुपात में खिलाना अच्छा रहता है। प्रति हैक्टेयर १२५ से १७५ क्विन्टल चारे की पैदावार हो जाती है। सोयाबीन के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि इसका चारा ऐसे समय यानी अगस्त से लेकर नवम्बर तक मिलता है जबकि अन्य किसी दलहनी चारे की कमी रहती है।

सोयाबीन के भूसे व खली में विभिन्न पोषक तत्वों की मात्रा (प्रतिशत में)

	प्रोटीन	वसा	कार्बोहाइड्रेट	रेशा	खनिज	फास्फोरस	कैल्शियम
भूसा	१२·५६	२·२२	५२·१३	२३·६६	६·४०	०·५७	१·८७
खली	५४·८४	३·४२	२५·६८	१०·२७	५·८०	०·७८	०·३२

विदेशी मुद्रा में बचत

हमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रति वर्ष काफी रुपये की कीमत का सोयाबीन तेल तथा सोयाबीन से बनी अन्य वस्तुयें विदेशों से मँगानी पड़ती हैं, जिसमें हमारी विदेशी मुद्रा खर्च होती है। सन् १९६०-६१ में ३०२३८·३ क्विन्टल सोयाबीन तेल अमेरिका से आयात हुआ था। यदि सोयाबीन की खेती अपने यहाँ बड़े पैमाने पर की जाने लगे तो इससे पर्याप्त विदेशी मुद्रा की बचत हो सकती है।

भूमि की उर्वराशक्ति में सुधार

सोयाबीन एक दलहनी फसल है, अतः वायुमंडल की खुली नाइट्रोजन लेकर भूमि में एकत्रित करती है और इस प्रकार भूमि की उर्वराशक्ति सुधरती है। अमेरिका तथा अन्य देशों में इसे हरी खाद तथा आच्छादित शस्य के रूप में काम में लाते हैं। हरी खाद के लिये बोने पर प्रति हैक्टेयर लगभग ४० किलोग्राम नाइट्रोजन तथा लगभग २५० क्विटल हरित जीवांश भूमि को मिल जाता है। अगर फसल दाने के लिये ही बोई गयी हो तब भी सूखी पत्तियों के जमीन पर गिरने तथा जड़ों द्वारा काफी जीवांश तथा नाइट्रोजन भूमि को मिल जाता है। यही कारण है, कि सोयाबीन के बाद रबी में कोई भी फसल बोयी जाय तो उसकी पैदावार अच्छी होती है।

विपरीत परिस्थितियों को सहन करने की क्षमता एवं अधिक पैदावार

भूमि की उर्वराशक्ति सुधारने के अतिरिक्त सोयाबीन की एक विशेषता यह भी है कि यह ऐसी भूमि में भी सफलता पूर्वक हो सकती है जिसका पीएच ५.५ तक हो तथा जिसमें अन्य फसलें जैसे कि लूसर्न तथा बरसीम आसानी से न हो सकती हों। सोयाबीन एक जल्दी पकने वाली फसल है तथा पर्याप्त मात्रा में सूखा भी सहन कर सकती है। सोयाबीन की खेती अपने देश में सफलतापूर्वक की जा सकती है। सोयाबीन की अच्छी फसल से प्रति हैक्टेयर लगभग २० क्विटल दाना तथा ४०-५० क्विटल भूसा मिल जाता है। इतनी पैदावार खरीफ मौसम की बहुत कम फसलों से ही होती है। अतः सोयाबीन की खेती लाभ तथा पैदावार की दृष्टि से भी श्रेयस्कर है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सोयाबीन की खेती हमारे सभी उद्देश्यों की पूर्ति करती है। खाने के स्तर में सुधार, देश के औद्योगिक विकास एवं विदेशी मुद्रा में बचत के लिये अधिक से अधिक सोयाबीन का उत्पादन बहुत महत्वपूर्ण है।

परमाणु की खोज

डा० बालगोविंद जायसवाल

परमाणु की खोज का इतिहास बहुत लम्बा है। यह वैज्ञानिक खोजों की एवं आविष्कारों के साथ धारणाओं के परिवर्तन की, एक रोमांचकारी तथा अत्यंत मनोरंजक कहानी है। संसार में आँखों से जो पदार्थ दिखाई देते हैं, विज्ञान में वे सब मूलरूप से 'द्रव्य' हैं। परिभाषा के अनुसार, 'द्रव्य' वह है जिसमें भार होता है जो स्थान घेरता है, रोध करता है तथा गीत को स्थानांतरित कर सकता है। द्रव्य तीन अवस्थाओं में पाया जाता है –(१ ठोस (२) द्रव तथा (३) गैस। द्रव्य के बड़े भाग छोटे-छोटे भागों में विभक्त किए जा सकते हैं। परन्तु द्रव्य का सबसे छोटा भाग क्या है? यदि आप द्रव्य के एक भाग को तोड़ कर, छोटा और और छोटा करते जाएँ तो अंत में आप किस भाग तक पहुँचेंगे? अर्थात द्रव्य का अस्तित्व द्रव्य के किन आधारभूत भागों के आश्रित है? यह जिज्ञासा मानव मस्तिष्क में अत्यन्त प्राचीन काल से उत्पन्न हुई तथा सतत जागृत रही। विभिन्न कालों में मननशील व्यक्ति मस्तिष्क तथा मस्तिष्क प्रयोग से आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देते रहे।

पश्चिम में यूनानी दार्शनिक डिमाक्रिटस (जो ४५० ई० पू० में विद्यमान थे) मानते थे कि सम्पूर्ण विश्व का पदार्थ परमाणु रूप है। ये परमाणु अनन्त शून्य में गतिशील हैं। ये अविनाशी, घनाकृति तथा असंपीड्य हैं। उनके अनुसार विभिन्न परमाणु, भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के होते हैं एवं रुक्षता, संसंजन शक्ति सम्पन्न होते हैं। डिमाक्रिटस के दर्शन में मन तथा आत्मा को भी परमाण्विक माना गया था। इनके परमाणु अग्नि के परमाणु सदृश बतलाए गए थे; जो कि मृत्यु पर बिखर जाते थे। एपीक्यूरस ने भी इस परमाणु सिद्धान्त को माना था परन्तु प्लेटो तथा अरस्तू ने इसे पूर्णतः अस्वीकार कर दिया। इन्हीं दार्शनिकों के प्रभाव के कारण योरोप में पुनर्जागरण तक फिर लोगों ने इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया।

भारतीय दर्शन भी परमाणुवाद में बहुत आगे बढ़ा हुआ था। वह तो समय को भी परमाणुओं से बना हुआ, 'अब' 'अब' की एक श्रृंखला मात्र मानता था। परमाणुवादी भारतीय दार्शनिकों में, वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि 'कणाद' का नाम प्रमुख है। उन्होंने परमाणु का वर्णन इस प्रकार किया है—

'परमाणु परम सूक्ष्म आधवयव: स्वयं निरवयव अतीन्द्रियो नित्य' अर्थात् परमाणु, सूक्ष्मतम, अविभाज्य, मौलिक, शाश्वत अवयव है। रघुनाथ-शिरोमणि के मतानुसार ये परमाणु शून्य में सदैव गतिमान रहते हैं—'अनवरत परिस्पन्दमाना परिमिति पवनादि परमाणव:'। तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व प्रणीत महर्षि कणाद के इस परमाणुवाद तथा उन्नीसवीं शती के आंग्ल वैज्ञानिक डाल्टन द्वारा प्रणीत Atomic Theory में कितना अधिक साम्य है। अन्तर केवल यही है कि महर्षि कणाद ने उक्त ज्ञान मानव संस्कृति के विकास के प्रारंभिक उपकरणविहीन काल में, मनन एवं अन्तर्दर्शन द्वारा प्राप्त किया था; जबकि वैज्ञानिक डाल्टन ने, रासायनिक प्रयोगों के प्रेक्षणफलों के अध्ययन से। अतएव विज्ञान-जगत में परमाणु-सिद्धान्त के प्रणेता होने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है।

वैसे उनके पूर्व के कई प्रमुख वैज्ञानिक—जैसे गेली-लियो, गेसेन्डी तथा न्यूटनपरमाणु-सिद्धान्त को मानते थे। बायल ऊष्मा को वस्तुओं के कणों का ओजस्वी प्रक्षोभ मानते थे। उन्होंने यह निष्कर्ष भी निकाला था कि

परमाणुओं की विभिन्न व्यवस्थाओं से अनेक यौगिक बन सकते हैं। सन् १७३८ ई० में इटालियन वैज्ञानिक बरनौली, गैसों को, विभिन्न दिशाओं में गतिमान असंख्य कणिकाओं से निर्मित मानते थे। वे गैसीय दाब का कारण, इने कणिकाओं की पात्र की दीवालों पर टक्करों को मानते थे।

इन सब पूर्ववर्ती मान्यताओं तथा धारणाओं ने तथा प्रयोग-प्रेक्षण प्राप्त 'तत्वों के संयोग के नियमों के आविष्कार' ने परमाणु-सिद्धान्त के मात्रात्मक-पक्ष के विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया। सन् १८०८ में जान डाल्टन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'A New System of Chemical Philosophy' प्रकाशित की। इसमें उन्होंने अपना परमाणु सिद्धान्त प्रस्तुत किया तथा उसके आधार पर तब तक अस्पष्ट बहुत से रासायनिक तथ्यों का स्पष्टीकरण भी किया। उनके अनुसार—

१. तत्व परमाणुओं से बने होते हैं। परमाणु अनादि तथा अविनाशी होते हैं।

२. किसी भी एक तत्व के परमाणुओं का भार एक समान होता है। वे आकार-प्रकार में भी एक सदृश होते हैं।

३. भिन्न-भिन्न तत्वों के परमाणुओं का भार तथा गुण भिन्न भिन्न होते हैं।

४. संयुक्त परमाणु, तात्विक परमाणुओं के सरल अनुपातों में योग के कारण, बनता है।

५. तत्वों के संयोगी भार उनके परमाणुओं के संयोगी भारों को ही व्यक्त करते हैं।

परमाणु के वैज्ञानिक खोज की कहानी यहाँ समाप्त नहीं होती। यह तो उसका प्रथम अध्याय मात्र है। डाल्टन का परमाणु एक ठोस गेंद की भाँति था। वह विभाजित नहीं हो सकता था। विभिन्न तत्वों के परमाणु एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न थे। परन्तु जैसे-जैसे नवीन तत्व के आविष्कारों द्वारा तत्वों की समानता तथा आवर्ती संबंध सामने आने लगे, वैज्ञानिकों की धारणायें बदलने लगीं। ये खोजें हैं—

१. १८२९ में डबेराइनर के 'त्रिक',

२. १८५९ में ड्यूमा द्वारा संकेतित 'तत्व-कुल',

३. सन् १८६३ में न्यूलैंड्स का अष्टक नियम,

४. सन् १८६९ में लोथर मायर तथा मैन्डेलीफ द्वारा आविष्कृत आवर्त-नियम तथा आवर्त सारणी।

वैज्ञानिकों ने अनुभव किया कि रासायनिक तत्वों में जो आवर्ती तथा समूह संबंध हैं, उसका कारण यह होना चाहिए कि तत्वों के लघुत्तम कणों—'परमाणुओं' में कुछ न कुछ वस्तु सर्वनिष्ठ (common) है, जिसके कारण विभिन्न तत्वों के परमाणु अत्यंत समीप से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अतः तत्वों के परमाणु अविभाज्य नहीं होने चाहिए। परन्तु उस समय इन अटकलों का कोई प्रायोगिक आधार उपलब्ध नहीं था। यह उपलब्ध हुआ उन्नीसवीं शती के अंतिम वर्षों में कैथोड-किरणों के अध्ययन से। विभिन्न विरलित गैसों में विभिन्न इलैक्ट्रोडों के बीच विद्युत्-विसर्जन से ताप तथा दाब की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त कैथोड कणों में कोई अन्तर नहीं रहता। वे सर्वसम होते हैं, चाहे जिस गैस या जिस इलैक्ट्रोड द्वारा उत्पन्न किए गए हों। प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ कि वे विद्युत्-आविष्ट कणों की धारा हैं। इस कण का द्रव्यमान, सबसे हलके तत्व हाइड्रोजन के परमाणु के द्रव्यमान का लगभग अठारह सौ-चालीसवाँ भाग है। इस पर ऋण विद्युत आवेश, विद्युत् की लघुत्तम मात्रा में रहता है। ये कण प्रत्येक तत्व के परमाणु के एक सर्वनिष्ठ-कण हैं। इन खोजों में प्रमुख हाथ था जर्मन तथा आँग्ल वैज्ञानिकों—जोसेफ प्लकर, हिटोर्फ, क्रूक्स, टामसन इत्यादि का। इन कणों का नामकरण 'इलेक्ट्रान' किया गया। इस खोज के फलस्वरूप डाल्टन का 'अविभाज्य परमाणु' टूट गया तथा परमाणु की वैद्युत्-संरचना पर प्रकाश पड़ा।

चूँकि इलेक्ट्रान अत्यन्त हलका तथा ऋण विद्युत्

आविष्ट है, जब कि पूर्ण परमाणु विद्युतत: उदासीन, अत: उसमें धन विद्युत्-आविष्ट भारी भाग भी होना चाहिए। इस भाग की खोज भी प्रारंभ हुई। शीघ्र ही यह तथा परमाणु के अन्य रचक कण भी आविष्कृत हुए। अन्य प्रमुख खोजें, जिनका हाथ परमाणु संबंधी ज्ञान को बढ़ाने में रहा, वे थीं—१८९५ में जर्मन भौतिक विज्ञानी रांजेन द्वारा आविष्कृत एक्स किरणें, १८९६ में फ्रांसीसी वैज्ञानिक बैकेरल द्वारा आविष्कृत ऐक्टिवता तथा १९११ में आँग्लवैज्ञानिक रदरफर्ड द्वारा आविष्कृत ऐल्फा किरणों का प्रकीर्णन।

अन्तत: सब परमाणुओं के मुख्य तीन सर्वनिष्ठ रचक कण पाए गए—इलैक्ट्रॉन' जिसका भार शून्य तथा विद्युत्-आवेश १ मात्रक है, 'प्रोटॉन' जिसका भार १ मात्रक तथा विद्युत्-आवेश—१ मात्रक है तथा न्यूटॉन' जिसका भार १ मात्रक है तथा विद्युत्-आवेश शून्य है। परमाणु संरचना की सामान्य व्यवस्था निम्न प्रकार प्रस्तुत की गई।

परमाणु के केन्द्र में एक धन-विद्युत् आविष्ट नाभिक (Nucleus) होता है। इसमें धन-विद्युत् आविष्ट कण प्रोटॉन तथा विद्युतत: उदासीन कण न्यूटॉन रहते हैं। इस नाभिक के चारों ओर इलैक्ट्रॉन, विभिन्न कक्षाओं में परिक्रमा करते रहते हैं। उनके घूर्णन से उत्पन्न अपकेन्द्र बल, नाभिक तथा इलैक्ट्रॉन, के पारस्परिक आकर्षण के कारण उदासीन हो जाता है। इस कारण इलैक्ट्रान, नाभिक से एक निश्चित अन्तर पर रहते हैं। परमाणु का प्राय: सम्पूर्ण द्रव्यमान उसके नाभिक में ही संचित रहता है। इलेक्ट्रॉनों का भार नगण्य है। परमाणु तथा उसके विभिन्न भागों के आकार लगभग इस कोटि के होते हैं :—

१. परमाणु का व्यास १ एंग्स्ट्रम मात्रक के लगभग। स्मरण रहे कि एक एंग्स्ट्रम मात्रक, एक मिलीमीटर का एक करोड़वाँ भाग होता है।

२. परमाणु मानिक का व्यास इससे भी दस हजार से लेकर दस लाख गुणा कम होता है, जबकि इलेक्ट्रॉन का व्यास इससे केवल एक लाख गुणा कम होता है।

उपर्युक्त परिमाणों से स्पष्ट है कि परमाणु नाभिक तथा इलेक्ट्रॉन पूर्ण परमाणु तंत्र के कुल आयतन का अत्यंत लघु भाग घेरते हैं, शेष कुल भाग शून्य है। परमाणु के इस नाभिकीय प्रतिरूप तथा सौर-मन्डल में पर्याप्त समानता है। परमाणु नाभिक ही मध्य में सूर्य की भाँति स्थित है। उसकी परिक्रमा, विभिन्न कक्षाओं में स्थित ग्रहों की भाँति, विभिन्न इलेक्ट्रॉन कर रहे हैं। सूर्य और ग्रहों के मध्य का विशाल प्रदेश भी शून्य होता है। इस कारण इस प्रतिरूप को परमाणु का 'ग्रहीय प्रतिरूप' भी कहते हैं। परमाणु के उपर्युक्त मूल कणों के अतिरिक्त अन्य कई कण भी आविष्कृत हो चुके हैं जैसे पाजिट्रान, मेसान, न्यूट्रिनो इत्यादि। इनके अतिरिक्त और कुछ कणों के आविष्कार की संभावना भी है। परमाणु तथा उसके नाभिक के सम्बन्ध में यद्यपि पर्याप्त खोजें हुई हैं, फिर भी इस सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अधूरा है। हजारों वैज्ञानिक कई गुत्थियों को सुलझाने में लगे हैं। इस प्रकार यह कहानी अभी पूर्ण नहीं हो पाई है। परन्तु जो कुछ भी ज्ञात हो पाया है वह परमाणु जैसे लघुत्तम कण के आन्तरिक सौन्दर्य, आन्तरिक भेद का हृदयग्राही दर्शन है तथा आज का वैज्ञानिक अपने परिश्रम के फलस्वरूप प्राप्त इस उपलब्धि पर वास्तव में गर्व कर सकता है।

'विज्ञान' आपकी पत्रिका है। अपने सुझाव भेजकर अनुगृहीत करें—सम्पादक

दैनिक जीवन में रसायन—७

● डा० शिवगोपाल मिश्र

ईंधन

सम्भवतः मानव द्वारा की गई सबसे बड़ी खोज आग उत्पन्न करने की कला है। प्रारम्भ में जब आदिम मानव को आग का पता नहीं था वह अँधेरे में रहता और कच्चा मांस या फल इत्यादि खाता था। किन्तु जब उसने पत्थर पर पत्थर पटक कर पहली बार अग्नि उत्पन्न की, उसके इस खिलवाड़ ने भविष्य के लिये एक चमत्कारिक द्वार खोल दिया। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी सभ्यता के विकास में अग्नि ने प्रचुर योग दिया है। अब हम भोजन पकाने से लेकर कमरों को गरम रखने आदि का कार्य अग्नि के ही माध्यम से करते हैं—भले ही वह अग्नि लकड़ी के जलाने से उत्पन्न हो या बिजली के माध्यम से उत्पन्न हो।

आग जलने के लिये ईंधन (Fuels) की आवश्यकता होती है। प्रारम्भ में घास फूस, लकड़ी आदि का प्रयोग होता था किन्तु अब कोयला, तेल, गैस आदि का व्यवहार होने लगा है। यही नहीं, आग को खुले चूल्हे या अँगीठी में ही न जलाकर अब ऊष्मा का उत्पादन विविध प्रकार के चूल्हों, अँगीठियों तथा वाष्पित्रों में किया जाने लगा है।

ईंधन के प्रकार

आजकल चार प्रकार के ईंधन काम में लाये जाते हैं—

(१) ठोस ईंधन जैसे लकड़ी, कोयला

(२) तरल ईंधन जैसे केरोसीन तेल, पेट्रोलियम या गैसोलीन

(३) गैसीय ईंधन यथा प्राकृतिक तथा कृत्रिम गैसें

(४) बिजली

ठोस ईंधन

अत्यन्त प्राचीनकाल से लकड़ी का उपयोग ईंधन के रूप होता आया है। जंगलों की बहुतायत होने के कारण लकड़ी सर्वसाधारण को उपलब्ध होती रही है किन्तु जंगलों के कट जाने से, दूर-दूर से लकड़ी लाने में असुविधा के कारण तथा नये ईंधन के स्रोत ज्ञात हो जाने के कारण अब लकड़ी की प्रयोग दिनोदिन घटता जा रहा है।

लकड़ी का ऊष्मन मान काष्ठ की किस्म, उसमें निहित आर्द्रता की प्रतिशतता एवं उसमें पाये जाने वाले रेजिनी गोंदों पर निर्भर करता है। आखिर लकड़ी है क्या? वह मुख्यतः सेल्यूलोस $(C_6 H_5 O_5)$ है जिसके साथ आर्द्रता, आकर्बनिक लवण तथा कुछ रेजिनी पदार्थ यथा तारपीन मिले रहते हैं। अकार्बनिक लवण पौदों को मिट्टी से उपलब्ध होते हैं।

कुछ लकड़ियाँ मुलायम और कुछ कठोर होती हैं। मुलायम लकड़ियों के जलाने से अधिक ऊष्मा प्राप्त होती है। आर्द्र (गीली) लकड़ियों के जलाने से सूखी लकड़ियों की अपेक्षा कम ऊष्मा प्राप्त होगी। इसी प्रकार अधिक धुँआ उगलने वाली रेजिनी लकड़ियों के जलाने से कम रेजिनी वाली लकड़ियों की अपेक्षा अधिक ऊष्मा निकलेगी। फलतः जलाने के लिये उचित प्रकार की लकड़ी का चुनाव करना चाहिए। ज्ञात हो कि १ पौंड शुष्क लकड़ी के जलाने से लगभग ७८००० ब्रिटिश थर्मल इकाई (B T U) ऊष्मा प्राप्त होगी। इतनी ऊष्मा एक पौंड जल के ताप को १° फारेनहाइट बढ़ा सकती है।

यदि लकड़ियों को लोहे के बन्द कमरे में गरम किया जाय तो गैसें बनती हैं और सूल्यूलोस अपघटित

होकर कार्बन तत्व– काठकोयला में परिणत हो जाता है। यदि गैसों को संघनित करके आसवन किया जाय तो उनके उपयोगी पदार्थ प्राप्त होंगे—यथा ऐसीटिक अम्ल, तारपीन, रोजिन, मेथिल ऐल्कोहल आदि।

लकड़ी के बाद **कोयले** का प्रचलन हुआ। ऐसा अनुमान है कि पत्थर के समान कठोर यह कोयला पुरातन काल में बड़े-बड़े जंगलों के दलदल में दबकर सड़ने और बाद में ताप एवं दाब बढ़ जाने के कारण निर्मित हुआ होगा। यह खानों के रूप में खोदा जाता है। हमारे देश में कोयले की अनेक खानें हैं और उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर के आस-पास नवीन कोयले के स्रोत ढूँढ़ निकाले गये हैं।

किन्तु धरती के गर्भ में छिपा यह कोयला एक ही प्रकार का नहीं होता। कुछ मुलायम किस्म के हैं तो कुछ कठोर। कुछ जलने में अधिक ऊष्मा उत्पन्न करते हैं तो कुछ कम। ऐसा अनुमान है कि कोयले बनने की प्रक्रिया क्रमिक ढंग से चलती है। सबसे कठोर कोयला ऐंथ्रासाइट कहलता है। फिर इससे कम कठोर कोयला बिटूमनी कोयला कहलाता है। यह रानीगंज, झरिया आदि में पाया जाता है। इसमें वाष्पशील पदार्थ अधिक रहते हैं। इससे भी मुलायम कोयले की किस्म **लिग्नाइट** कहलाती है। इसके प्रचुर भंडार नवेली में पाये गये हैं। यह भूरे रंग का होता है। यह अपेक्षतया कम आयु का द्योतक है। दलदल स्थानों में भी कोयले की एक किस्म पाई जाती है। इसे **पीट** कहते हैं। इसमें काष्ठ की बहुलता रहती है। वास्तव में यह कोयले एवं लकड़ी के मध्य की अवस्था है।

उपर्युक्त पदार्थों में से पीट तथा लिग्नाइट तो सतह पर ही पाये जाते हैं किन्तु बिटूमनी कोयला एवं ऐंथ्रासाइट के लिए खानें खोदी जाती हैं।

लकड़ी की ही तरह कोयले से उत्पन्न ऊष्मा उसमें विद्यमान आर्द्रता एवं कोयले की किस्म पर निर्भर करती है। १ पौंड विभिन्न कोयलों के जलाने से जो ऊष्मा प्राप्त होगी वह निम्नांकित है :—

ऐंथ्रासाइट	१२०००-१४०००	ब्रिटिश थर्मल इकाई
बिटूमनी	१२०००-१३५००	,, ,, ,,
लिग्नाइट	७०००-१०५००	,, ,, ,,

यदि बिटूमनी कोयले को बन्द चूल्हों में गरम किया जाय तो कोक मिलता है जिसे जलाने पर धुवाँ उत्पन्न नहीं होता और बिटूमनी कोयले से कहीं अधिक ऊष्मा प्राप्त होती है।

तरल ईंधन

पेट्रोलियम उद्योग की उन्नति के साथ ही उससे प्राप्त होने वाले विविध पदार्थ—केरोसिन तेल, गैसोलीन आदि—ईंधन के रूप में प्रयुक्त किये जाने लगे। ऐसा अनुमान है कि पेट्रोलियम की उत्पत्ति पौदों एवं पशुओं के पृथ्वी के नीचे दब जाने से हुई।

विविध प्रकार के ज्वालकों एवं स्टोवों की निर्माण हो जाने से केरोसीन तथा गैसोलीन का उपयोग होने लगा है।

गैसीय ईंधन

ईंधन के रूप में गैस का उपयोग पहली बार सन् १८०२ ई० में एक अंग्रेज इंजीनियर द्वारा हुआ। किन्तु १९ वीं शती के अन्त तक इसका प्रचलन नहीं हुआ। अब तो गैस उत्पादक अनेक कम्पनियाँ देश के विभिन्न नगरों में गैस सिलिंडर वितरित करने लगी हैं जिससे नागरिकों को ठोस या तरल ईंधन की कठिनाइयों या आपदाओं से राहत मिल गई है। यह गैस कृत्रिम ढंग से बनाई जाती है और कभी-कभी तेल के कुओं की खुदाई के समय भी निकलती है। इसे पाइप लाइनों द्वारा दूर-दूर तक पहुँचाया जाता है। इन गैसों में प्रमुख अंश मेथेन का होता है। यदि गैसों में थोड़ी सी वायु मिला कर जलाया जावे तो वे नीली तथा प्रकाश विहीन ज्वाला के साथ जलती हैं।

कृत्रिम गैसें जो घरों में जलाने के कार्य में लाई जाती हैं उनमें **कोल गैस** तथा **जल गैस** प्रमुख हैं। कोल गैस का उत्पादन बिटूमनी कोयले के भंजक आसवन द्वारा किया जाता है। १ टन कोयले से १० हजार घन

फुट गैस उत्पन्न की जा सकती है। गैस के साथ ही कोलतार, अमोनिया तथा कोल भी बनता है। कोल गैस में हाइड्रोजन (४०%) मेथेन (४०%) तथा कार्बन मोनोक्साइड (१०%) का मिश्रण रहता है। यदि १ घन फुट गैस जलाई जाय तो उससे ५०० ब्रिटिश थर्मल इकाई ऊष्मा उत्पन्न होगी।

कोल गैस की विशेष महक होती है जिसके द्वारा उसे पहचाना जा सकता है।

जल गैस की उत्पत्ति कठोर कोयले को तप्त करके उसके ऊपर जल की भाप प्रवाहित करके की जाती है। इसमें कार्बन मोनोक्साइड तथा हाइड्रोजन गैस का मिश्रण रहता है।

$$C + H_2O \rightarrow \underbrace{CO + H_2}_{\text{जल गैस}}$$
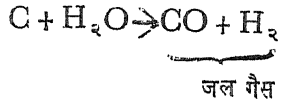
१ घन फुट जल गैस के जलने से २५०-३५० ब्रिटिश थर्मल इकाई ऊष्मा प्राप्त होगी। इस गैस में कोई गंध नहीं होती फलतः घरों में इसका उपयोग करते समय ध्यान रखना चाहिए अन्यथा यह रिस करके निकल सकती है। कभी-कभी कोल गैस मिलाकर जल गैस का उपयोग किया जाता है।

बिजली

यद्यपि बिजली को ईंधन के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता किन्तु घरों को गरम करने के लिये या भोजन बनाने के लिये इसका उपयोग होने के कारण इसे ईंधन कहा जा सकता है। बिजली का उत्पादन जल से सम्भव है और जल ऐसा स्रोत है जिसका क्षय सम्भव नहीं फलतः जहाँ जल विद्युत तैयार की जाती हैं वहाँ बिजली का उपयोग घरेलू कार्यों के लिये किया जा सकता है। आजकल बिजली से चलने वाले कुकर तथा रेंजर उपलब्ध हैं जिनमें अत्यन्त सरलता एवं समय की बचत के साथ भोजन बनाया जा सकता है। पढ़ी लिखी महिलायें, नौकरी करने वाले परिवार आदि बिजली के रेंजरों में ही खाना बनाना पसन्द करते हैं। इससे घर गन्दा नहीं होता, कपड़े भी गन्दे नहीं होते और आधुनिकता का आभास मिलता है।

ईंधन की किस्में जान लेने के बाद यह जान लेना प्रासंगिक होगा कि ईंधन से ऊष्मा कैसे प्राप्त होती है? ईंधनों के प्रयोग करते या खरीदते समय कौन-सी बातें स्मरण रखनी चाहिए?

जब कोई पदार्थ आक्सीजन के साथ संयोग करके इतनी ऊष्मा उत्पन्न कर सके कि उससे गरम करने का काम चल सके तो उसे ईंधन कहते हैं। ईंधन में रासायनिक ऊर्जा रहती है जो आक्सीजन के साथ संयोग करके उसे तुरन्त ही ऊष्मा में परिवर्तित कर सकती है। उदाहरणार्थ हम कोयले को लें। इसका कार्बन आक्सीजन से संयोग करके ऊष्मा उत्पन्न करता है।

$$C + O_2 \rightarrow CO_2 + \text{ऊष्मा}$$

इसी प्रकार जल गैस भी

$$2CO + 2H_2 + 2O_2 \rightarrow 2CO_2 + 2H_2O + \text{ऊष्मा}$$
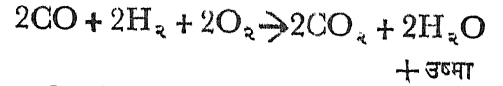
प्राकृतिक गैस की मेथेन का आक्सीजन से संयोग होता है।

$$CH_4 + 2O_2 \rightarrow CO_2 + 2H_2O + \text{ऊष्मा}$$
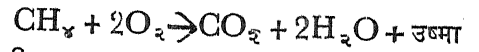
किन्तु प्रायः समस्त ईंधन के व्यय होने के लिये प्रचुर आक्सीजन की आवश्यकता पड़ती है। व्यावहारिक रूप में यह सम्भव नहीं फलतः ईंधन की आंशिक ज्वलन ही हो पाता है। ऐसी स्थिति में CO_2 न बन करके विषैली गैस बनती है जिसे कार्बन मोनोक्साइड, CO, कहते हैं।

$$4C + 2O_2 \rightarrow 2CO + CO_2 + C$$
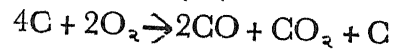
ठीक से ईंधन न जलने पर कजली बनती है और धुंआ उठता है। ऐसा अनुमान है कि प्रायः ईंधन के ५० – ६० % ऊष्मा मान का ठीक से उपयोग नहीं हो पाता। यही नहीं धुंए से शहरों में गंदगी फैलती है, दीवालों की कलई पर प्रभाव पड़ता है, नागरिकों का स्वास्थ्य बिगड़ता है।

यदि रसोई घर में कोयले की अँगीठी ठीक से

नहीं जलती, या स्टोव अथवा गैस बर्नर ठीक से नहीं चालू रहता तो इतनी विषैली गैस (CO) उत्पन्न हो सकती है कि वह घातक सिद्ध हो जाय। कभी-कभी तमाम मृत्युयें ऐसी जानकारी न होने के कारण हो सकती हैं।

फलतः ईंधन (गैस आदि) का सर्वाधिक लाभ उठाने के लिये चूल्हों या स्टोवों को ठीक से चालू करने की विधि आनी चाहिए। इसकी पहचान कि गैस ठीक से जल रही है यह है कि उसमें जलते समय ज्वाला में पीलापन नहीं रहना चाहिए।

कोयले के जलते समय बहुत सा धुँआ निकलता है। प्रायः प्रत्येक घर में प्रातः काल कोयले की अँगीठी जलते समय इतना धुँआ निकलता है कि कभी-कभी पूरा घर उससे भर जाता है। ऐसा क्यों ?

वास्तव में यह गलत विधि से आग जलाने की क्रिया के कारण है।

जब कोयले के टुकड़ों को लोहे की छड़ों के ऊपर रख कर नीचे से जलते कपड़े या कागज के द्वारा आग पकड़ाने का प्रयत्न किया जाता है तो वास्तव में इससे कोयले को दहन ताप तक पहुँचाने की क्रिया सम्पन्न होती है। कोई भी वस्तु तब तक आग नहीं पकड़ती जब तक कि वह दहन ताप को प्राप्त नहीं कर लेती। ज्योंही कोयला दहन ताप को प्राप्त कर लेता है उसकी ऊपरी सतह वाष्प रूप में परिणत होना शुरू हो जाती है। इस वाष्प को ज्वलन-क्षेत्र में से होकर जाना चाहिए। यदि गैसें इस क्षेत्र में से होकर नहीं जातीं तो वे पूर्णतया न जल करके धुँआ उत्पन्न करती हैं। यही कारण है कि अँगीठी को जलाते समय पटु गृहणियाँ उतनी परेशानी का अनुभव नहीं करतीं जितनी कि नौसिखिए रसोइये। अँगीठी में वायु के प्रवेश का समुचित प्रबन्ध रखना पड़ता है और राख को झाड़ते रहना होता है।

कोयला खरीदते समय कुछ वैज्ञानिक तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए। स्मरण रहे कि जब आप कोयला खरीदते हैं तो ऊष्मा का क्रय करते हैं और यह ऊष्मा कोयले की किस्म पर निर्भर करती है। कुछ तथ्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) चूल्हे या अँगीठी के अनुकूल कोयले की किस्म तथा आकार

(२) कोयले में कार्बन की मात्रा

(३) कोयले में वाष्पशील पदार्थ की मात्रा

(४) कोयले में आर्द्रता की मात्रा

(५) प्रति पौंड ब्रिटिश थर्मल इकाई

(६) राख की मात्रा

लकड़ी तथा कोयले के व्यापारी प्रायः पानी से भिगोकर या वर्षा के दिनों में इन चीजों को खुला छोड़कर गीला ईंधन बेचने के आदी हैं। स्मरण रहे कि गीला ईंधन उतने ही भार के शुष्क ईंधन से कम ऊष्मा प्रदान करेगा। [क्रमशः]

पृष्ठ ४ का शेषांश

डा० सिंह ने एक सन्ध्या को मिर्च के पौधे पर संगीत का प्रभाव देखा, थोड़े ही दिन पश्चात् वह मुरझागया।

पाण्डुचेरी के अरविन्द विश्वविद्यालय में भी पेड़-पौधों पर संगीत के प्रयोग विशाल पैमाने पर हो रहे हैं। ईख, गोभी, गेहूँ एवं पपीते के पौधों पर संगीत के प्रभाव के प्रयोग हो रहे हैं। वहाँ माइक्रोफोनों से नियमित रूप से पेड़-पौधों को संगीत सुनाया जाता है।

सोवियत विज्ञान अकादमी के प्रयोगों से पता चला है कि संगीत मरे कोषों में भी जीवन भर देता है।

संगीत से कुछ फलों के क्षमताहीन बीजों के गर्भ-केसर में फिर से बीज पैदा करने की शक्ति आ गई।

सन् १६०५ के लगभग की घटना है। कलकत्ता में एक विचित्र खजूर का पेड़ था। जब पास के मन्दिर में घण्टे-घड़ियाल बजते तो वह अपने आप ऊपर से ६०° का कोण बनाता हुआ झुक जाता था मानों मन्दिर के सामने अपना मस्तक झुका रहा हो। लोग पेड़ की इस भक्ति को देख आश्चर्य करते थे। डा० जगदीशचन्द्र वसु ने इस पेड़ पर आश्चर्यजनक प्रयोग किये थे।

यूरोप के कई देशों में पेड़-पौधों पर संगीत का प्रभाव देखा जा रहा है। पेड़-पौधों पर संगीत का विचित्र प्रभाव विज्ञान-जगत् में अद्भुत क्रान्ति उत्पन्न करेगा। ●●

सौर ऊर्जा का दोहन

● शत्रुघ्न

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अमरीका में उत्पन्न की गई खाद्य सामग्री की प्रत्येक कैलारी पर समान कैलारी ईंधन का खर्च होता है—यह ईंधन ट्रैक्टर से भूमि जोतने, यांत्रिक कटाई, खाद्य सामग्री की तैयारी, खाद्य सामग्री को इधर से उधर ले जाने आदि में प्रयुक्त होता है। अतः यदि दैवयोग से कहीं ईंधन चुक जाय तो खाद्य सामग्री का उत्पादन ठप हो जावेगा। यह है आधुनिक कृषि की यांत्रिक ऊर्जा पर निर्भरता।

ज्यों-ज्यों विश्व की जनसंख्या में वृद्धि होगी और पिछड़े राष्ट्र उन्नति के पथ पर अग्रसर होंगे त्यों-त्यों ऊर्जा की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ेगी। अतः यदि मनुष्य को जीवित रहना है तो उसे अपने बाहुबल का भरोसा करना होगा अन्यथा मरने के लिये तैयार रहना होगा।

इस समय विश्व में कोयला, गैस तथा तेल के प्रचुर भण्डार हैं किन्तु न तो वे समान रूप से विस्तीर्ण हैं और न वे अक्षय ही हैं। फिर भी हम भाग्यशाली हैं क्योंकि सूर्य प्रकाश द्वारा निर्मित बहुत सा ईंधन पृथ्वी के गर्भ में छिपा है जिसे हम इंजीनियरी के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं। आजकल परमाणु ऊर्जा भी ऊर्जा प्राप्ति का एक विस्मयजनक साधन हो रहा है किन्तु अभी यह अल्प विकसित रूप में है।

यदि अतीत काल में सौर ऊर्जा के बल पर ही कोयला जैसे ऊर्जादायक ईंधनों का संश्लेषण हुआ तो क्या इस सौर ऊर्जा का इस युग में—प्रत्येक दिन प्रत्येक क्षण—उपयोग नहीं किया जा सकता? निस्सन्देह अब इंजीनियरों तथा वैज्ञानिकों को सौर ऊर्जा के प्रत्यक्ष उपयोग पर ध्यान देना होगा। प्रत्येक दिन, विशेषतः जिस दिन बादल नहीं होते, और सूर्य चमकता है, न जाने कितनी सौर ऊर्जा पृथ्वी के तल पर उपलब्ध होती है और जब तक इस पृथ्वी पर मनुष्य हैं तब तक यह ऊर्जा निर्बाध रूप से उपलब्ध होती रहेगी। किन्तु सौर विकिरण की तीव्रता अत्यन्त मन्द है अतः उसके संग्रह के लिये अत्यन्त विस्तृत क्षेत्रों की आवश्यकता होगी जहाँ सौर विकिरणों का संग्रह हो सके। इस संग्रह के लिये प्रचुर सामग्री की आवश्यकता होगी। फिर संग्रह कार्य में अनेक व्यवधान भी आ सकते हैं जैसे दिन के बाद रात का होना, दिन के समय बादलों का छा जाना आदि जिसके कारण संग्रह के लिये प्रयुक्त होने वाले कीमती उपकरणों को काफी काल तक बेकार पड़े रहना होगा।

उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि परमाणु ऊर्जा तथा सौर ऊर्जा एक दूसरे की पूरक हैं। उदाहरणार्थ, शीतोष्ण एवं बादलों से घिरे रहने वाले क्षेत्रों में कम सौर ऊर्जा उपलब्ध हो सकने के कारण परमाणु ऊर्जा जैसी प्रखर ऊर्जा का आयोजन करना होगा। सौर ऊर्जा को उन क्षेत्रों तक ही सीमित रखा जा सकता है जहाँ सूर्य का प्रकाश रहता है। यह क्षेत्र ३०° उत्तर से ३०° दक्षिण के मध्य स्थित हैं। सौर ऊर्जा मुख्यः देहाती क्षेत्रों के लिये वरदान होगी क्योंकि इन क्षेत्रों तक बिजली के तार द्वारा ले जाने में न जाने कितना खर्च होगा।

प्रकाश संश्लेषण (Photosynthesis)

बड़ी ही रोचक बात तो यह है कि ऊपर हमने जिस बात पर बल दिया है वह हमारी देर से समझने की शक्ति का द्योतक है अन्यथा हमारा जितना भी खाद्य पदार्थ है और जितना भी ईंधन है वह सौर ऊर्जा से ही उद्भूत है। वह प्रक्रम जिसके द्वारा सौर ऊर्जा खाद्य एवं ईंधन में परिवर्तित होता है **प्रकाश संश्लेषण** कहलाता है।

कृषि द्वारा सौर ऊर्जा का समुचित उपयोग नहीं हो पाता। प्रति वर्ष कृष्य क्षेत्र पर जितनी सौर ऊर्जा पड़ती है उसका ०.२ प्रतिशत ही पौदों की वृद्धि में प्रयुक्त होती है किन्तु अन्य विधियों में इससे कहीं अधिक ऊर्जा का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, जल के आसवन में ४० प्रतिशत तक, सौर प्रशीतन में २५ प्रतिशत तक तथा विद्युत में परिणत होने पर १० प्रतिशत तक ऊर्जा काम में आती है।

सौर ऊर्जा के प्रयोग

हम सौर ऊर्जा का प्रयोग निम्नांकित कार्यों के लिये कर सकते हैं—

जल को गरम करने, घरों को उष्ण बनाने, प्रशीतन, जल के वाष्पन, भोजन बनाने, ऊष्मा इंजिनों द्वारा यांत्रिक एवं विद्युत शक्ति उत्पन्न करने, फोटोवौल्टैक सेल में।

इसमें सन्देह नहीं कि सौर ऊर्जा ईंधन से प्राप्त ऊर्जा की तुलना नहीं कर सकती किन्तु विश्व भर में २ अरब ऐसे लोग है जिन्हें बिजली की सुविधा प्राप्त नहीं है और ये विषुवत रेखा के निकटवर्ती क्षेत्रों के निवासी हैं। इन क्षेत्रों में बहुतों के पास जल विद्युत शक्ति भी उपलब्ध नहीं है फलतः ऐसी दशा में सौर ऊर्जा ही ऊर्जा का प्रमुख साधन रह जाता है। यह वैज्ञानिकों एवं इंजीनियरों के लिये चुनौती है कि वे सौर ऊर्जा को व्यावहारिक रूप प्रदान करें। किन्तु इतने पर भी यह आवश्यक नहीं कि जो ऊर्जा उत्पन्न होगी वह अन्य साधनों से प्राप्त ऊर्जा से होड ले सके। उदाहरणार्थ परमाणु ऊर्जा से प्राप्त बिजली २० वर्षों के प्रयास के फलस्वरूप ही कोयले से उत्पन्न बिजली से होड ले सकी है। इस प्रकार की होड के लिये सरकारी एवं औद्योगिक सहायता वांछित होती है। हर्ष की बात है कि रूस, अमरीका, फ्रांस, आस्ट्रेलिया एवं इजराइल, सौर ऊर्जा सम्बन्धी शोधों में सहायता पहुँचा रहे हैं। अमरीका में ऐरिजोना विश्वविद्यालय से सौर ऊर्जा के सम्बन्ध में एक पत्रिका प्रकाशित होती है और समय-समय पर तत्सम्बन्धी बैठकें होती रहती हैं। वहाँ सन् १९५५ में **"सौर ऊर्जा परिषद्"** की स्थापना भी हुई। तब से १२ वर्ष में जो कार्य हुआ उसके फलस्वरूप कतिपय उष्ण प्रदेशों में सौर आसवन संयन्त्र लगाये गये हैं। राकेटों तथा अन्तरिक्ष यानों में शक्ति के स्रोत के रूप में भी सौर ऊर्जा का उपयोग हुआ है।

सौर ऊर्जा सम्बन्धी शोध महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इसमें भौतिक शास्त्रियों, रसायनज्ञों, रसायन इंजीनियरों, विद्युत इंजीनियरों, नक्षत्रविदों, मौसम वैज्ञानिकों एवं जीव वैज्ञानिकों को मिल-जुल कर कार्य करना पड़ता है।

सौर ऊर्जा के उपयोग का विहंगावलोकन

सौर ऊर्जा का सम्प्रयोग बिल्कुल नया नहीं हैं। १८७२ ई० में चीली प्रदेश में लगभग १ एकड़ क्षेत्रफल में शोरे की खान के पास एक सौर-भभका बनाया गया था जो लगभग ४० वर्षों तक सफलतापूर्वक कार्य करता रहा। १८७८ ई० में ही फ्रांस में सौर भाप इंजन का सफल प्रदर्शन हुआ था किन्तु आर्थिक दृष्टि से सस्ते न होने के कारण ऐसे सौर ऊर्जा सम्बन्धी आविष्कार जैसे के तैसे पड़े रह गये।

सौर विकिरण

ऐसा अनुमान है कि प्रति मिनट प्रति वर्ग सेंटीमीटर पर एक कैलारी सौर विकिरण पड़ता है। प्रतिदिन यह मात्रा प्रति वर्ग सेमी० पर ५०० कैलारी होगी अथवा १ वर्ग फुट के लिये ५००,००० केलारी। यदि किसी घर की छत, जिसका क्षेत्रफल १००० वर्ग फीट हो, सूर्य प्रकाश पाती रहे तो वह प्रति घंटे ७० किलोवाट अथवा ८ घंटे में ५६० किलोवाट घंटा ऊष्मा ग्रहण करेगी। यह मात्रा उतनी ही है जितनी १५० पौंड कोयला या १४ गैलन गैसोलीन के जलाने से प्राप्त होती है। यदि इस ऊष्मा को विद्युत में परिणत किया जा सके और यदि यह मान लिया जाय कि इसकी क्षमता १० प्रतिशत है तो छत में से दिन भर में ५६ किलोवाट घंटा बिजली प्राप्त हो सकेगी। इतनी बिजली से

घर के समस्त वैद्युत उपकरण संचालित हो सकेंगे। किन्तु इतने बड़े क्षेत्रफल पर किसी पदार्थ को फैलाकर ऊष्मा को ग्रहण करना अत्यन्त व्ययसाध्य होगा। जरा अब कल्पना कीजिये, चीली का मरुस्थल जो १८० मील लम्बा एवं १०० मील चौड़ा है उस पर वर्ष भर में सूर्य प्रकाश से जितनी ऊष्मा प्राप्त होगी वह एक वर्ष में सम्पूर्ण विश्व में कोयला, गैस तथा तेल के जलाने से प्राप्त ऊष्मा के तुल्य है। ऊष्मा को मापने के लिये जिन उपकरणों का प्रयोग किया जा सकता है वे हैं थर्मोकपल, फोटोवोल्टेक सेल एवं कैलारी मापी।

सौर ऊर्जा का संचय

सूर्य की ऊर्जा को दो प्रकार से संचित किया जा सकता है—

१—समतल पट्टिका संग्राहक

२—संकेन्द्रक संग्राहक

प्रथम प्रकार के संग्राहक में विकिरण अवशोषक पट्टिकायें काले रंग की होती हैं जिनके ऊपर कांच या प्लास्टिक के आच्छादक लगे रहते हैं जो ऊष्मा को ग्रहण करके अवरक्त विकिरण द्वारा होने वाली क्षति को कम करते हैं। इनसे लगभग १००° से० तक का ताप मिलता है।

दूसरे प्रकार के संग्राहक अधिक खर्चीले, मुड़े हुये परावर्तनकारी पृष्ठों के रूप में होते हैं जो सौर विकिरण को एक लघु लक्ष्य पर संकेन्द्रित करते रहते हैं। इनसे स्थानीय ऊष्मन होता है जिससे कई सौ से लेकर ३०००° से० या इससे भी उच्च ताप प्राप्त हो सकता है। इन्हें लगातार सूर्य की ओर उन्मुख रखना पड़ता है जबकि समतल पट्टिका संग्राहक स्थिर होते हैं, आकार में बड़े एवं कम खर्चीले होते हैं। ये सभी प्रकार के सौर विकिरण के प्रति संवेदनाशील हैं—चाहे वह प्रत्यक्ष हो या विसरित हो। संकेन्द्रक संग्राहियों का सबसे बड़ा दोष यह भी है कि उन पर प्रत्यक्ष सौर विकिरण पड़ना चाहिए अत: बदली के दिन या धुंध भरा आकाश उपयुक्त नहीं होते।

भोजन पकाते समय

कुछ वर्ष पूर्व यह तहलका मचा था कि गोबर के स्थान पर सौर ऊर्जा का उपयोग करके भोजन पकाया जा सकेगा। जो ऐसे कुकर बने, उनकी कार्यप्रणाली भी सरल थी किन्तु वे वहीं लाभदायक सिद्ध हो सकते थे जहाँ तीव्र सूर्य प्रकाश मिलता रहे एवं लकड़ी या तेल उपलब्ध न होता हो।

यदि कोई भी गृहिणी २-३ घंटे दिन के किसी समय सूर्य के विकिरणों को अवशोषित करके संग्रह करके इच्छानुसार प्रयोग में ला सके तो शायद ऐसी सूझ बूझ अपेक्षतया अधिक ग्राह्य हो।

ऐसा अनुमान है कि जापान तथा इज़राइल में हज़ारों की संख्या में पानी गरम करने के लिये सौर हीटर उपलब्ध हैं। गरम पानी की थैलियों के रूप में भी सौर हीटर उपयोगी हो सकते हैं।

मकानों को गरम रखने में

ठंडे देशों में घरों को गरम रखने के लिये तमाम कोयला जलाया जाता है। इसके स्थान पर सौर ऊर्जा का प्रयोग किया जा सकता है और इस प्रकार ईंधन के खर्च में बचत की जा सकती है किन्तु दुर्भाग्यवश घरों को गरम करने की दिशा में सौर ऊर्जा का बहुत कम प्रयोग हुआ है। १९६१ ई० में एक अनुमान के अनुसार केवल ६ इमारतें ऐसी थीं जहाँ इस प्रकार से घरों को गरम रखा जाता था। पानी को सौर ऊष्मकों द्वारा गरम करके उसे घुमाया जाता है अथवा सौर ऊष्मा से गरम वायु को चक्रित किया जाता है। जिस प्रणाली के द्वारा इमारतें गरम की जाती हैं उसी के द्वारा इमारतों को ठंडा भी रखा जा सकता है। काली पुती सतह रात्रि में जल्द ही ऊष्मा को त्याग करके ठंडी हो जाती है।

सुखाने के काम में

चाहे अन्न हो या भूसा, उसे सुखाने की आवश्यकता पड़ती ही है। सम्भवत: कृषि में सूर्य द्वारा सुखाने का यह काम प्राकृतिक रूप से होता है। ठीक से बीज या

पत्तियाँ न सूखने पर वे सड़-गल सकती हैं या उनका स्वाद बिगड़ सकता है। सौर ऊर्जा के उपयोग से फसलों को संग्रह के पूर्व सुखाया जा सकता है। इससे धूल, कवक आदि से भी बचाव हो सकता है। इसके लिये काली पुती धातु से बनी छत के नीचे से होकर वायु प्रवाहित की जाती हैं। यह ध्यान रखना होगा कि १ ग्राम जल को वाष्पित होने के लिये ५८० कैलारी ऊष्मा चाहिये जबकि प्रत्येक वर्ग फुट को प्रतिदिन ५०० हजार कैलारी ऊष्मा सूर्य से प्राप्त होती रहती है।

सौर भट्टियाँ (Solar Furnaces)

सौर भट्टियों का प्रयोग वैज्ञानिक शोधों में अत्युच्च ताप उत्पन्न करने के लिये होता है। १७७४ ई० में ही लैवोजियें ने एक सौर भट्टी का प्रयोग किया था जिसमें आदमकद लेन्स प्रयुक्त हुआ था। कई प्रयोग-शालाओं में फौजी परावर्तनी सर्चलाइटों के माध्यम से जिनका व्यास ५ फुट तक हो, ३००० से० तक उच्च ताप उत्पन्न किया जाता है। फ्रांस में ३५०० खिड़की के कांचों से बनी एक सौर भट्टी है। ऐसी भट्टियों की विशेषता यही है कि इनमें न तो वैद्युत या चुम्बकीय क्षेत्र की आवश्यकता होती है, न गैस या बिजली के हीटरों की। हाँ, ये केवल धूप वाले दिनों में कार्य कर सकती हैं। इनके परावर्तकों एवं चौखटों के तैयार करने में असुविधा होती है। ऐसी भट्टियों का उपयोग जिर्को-निया के प्रगलन में किया जाता है। बैरीलियम तथा टंगस्टन के अयस्कों से शुद्ध रसायनों की प्राप्ति के लिये भी इनका प्रयोग सफलतापूर्वक हुआ है।

रासायनिक गतिकी के अध्ययन में सौर भट्टियाँ उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। चन्द्रमा पर चट्टानों को गरम करके जल मुक्त करने तथा अन्तरिक्ष वाहनों के ऊष्मा इंजिनों के परिचालन में भी ये भट्टियाँ उपयोगी हैं।

जल का आसवन

ज्यों-ज्यों विश्व की जनसंख्या बढ़ती जा रही है, मरुस्थली एवं अर्द्ध मरुस्थली भागों के आबाद होने की सम्भावना बढ़ती जा रही है। फलतः ऐसे क्षेत्रों में मीठे जल की उपलब्धि एक गम्भीर समस्या है जिसकी ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। समुद्री जल को पेय बनाने के प्रयत्न चालू हैं जिसमें परमाणु ऊष्मा द्वारा खारी जल का आवसन एक प्रमुख समाधान जान पड़ता है। किन्तु छोटे पैमाने पर जहाँ प्रतिदिन कुछ गैलन से लेकर १० हजार गैलन पेय जल की आवश्यकता होगी वहाँ सौर आसवन अत्यन्त सस्ती विधि होगी क्योंकि यदि अन्य विधियों से खारी पानी को पेय बनाना हुआ तो उसके लिये चतुर एवं प्रशिक्षित व्यक्तियों एवं विशिष्ट संयंत्रों की आवश्यकता होगी। सौर आसवन विधि में अत्यन्त सरल संयंत्र चाहिए जिसमें से आसवित जल की मात्रा सौर ऊष्मा की कुल प्राप्ति एवं जल की वाष्पन ऊष्मा पर निर्भर करेगी। यह ज्ञात है कि १ ग्राम जल को ५०° से० तक गरम करने तथा वाष्पीकृत करने में लगभग ५०० कैलारी के अधिक ऊष्मा की आवश्यकता पड़ती है। यदि यह मान लिया जाय कि समस्त सौर ऊष्मा का उपयोग वाष्पन में हो सकेगा तो प्रति वर्ग सेमी० क्षेत्रफल पर १ मिली० आयतन या ४ वर्गफुट पर १ गैलन जल वाष्पीकृत होगा। किन्तु वास्तव में ३३ प्रतिशत से अधिक ऊष्मा का सदुपयोग नहीं हो पाता फलतः १२ वर्गफुट क्षेत्रफल से प्रतिदिन १ गैलन जल वाष्पित होगा। ईंधन से चालित भभकों की क्षमता कहीं अधिक है किन्तु प्रारम्भिक खर्च अधिक पड़ता है। ऐसे भभके भूमध्यसागर के आसपास के क्षेत्र में, आस्ट्रेलिया, स्पेन, अमरीका तथा रूस में बनाये जा चुके हैं।

एक सर्वसामान्य सौर भट्टी की रचना निम्न होगी—

जल से भरी काले रंग वाली बड़ी-बड़ी तश्तरियाँ के ऊपर पारदर्शी छत रहती है जो सूर्य के विकिरण को प्रवेश होने देती है जिससे पानी गरम होता है। इससे जल भाप में परिणत होता है और छत में संघनित होकर भीतर ही भीतर बहकर बड़े संग्रह पात्र में एकत्र

होता रहता है। यह छत प्लास्टिक की बनी हो सकती है। यह काँच से सस्ती होगी। यह भट्टी रात में भी कार्यशील रह सकती है। प्रयुक्त होने वाले प्लास्टिक के लिये आवश्यक है कि यह सूर्य के प्रकाश, जल के सम्पर्क, वायु के थपेड़े आदि को सहन करने में सक्षम हो। यदि सौर भट्टियों में जल छिछला रहे तो वाष्पन तीव्र गति से होगा किन्तु गहरी भट्टियों में रात के समय भी वाष्पन चलता रहेगा।

रेगिस्तानों में यात्रा करते समय यात्रियों को जल उपलब्ध करने की एक विचित्र किन्तु सरल प्रविधि विकसित की जा चुकी है। वर्षों के बाद भूमि की सतह से जल विलुप्त अवश्य हो जाता है किन्तु निचली सतहों पर कुछ न कुछ आर्द्रता बनी रहती है फलतः भूमि में ३ फुट व्यास का एक २ फुट गहरा गड्ढा खोदकर उसके ऊपर प्लास्टिक का टुकड़ा रख दिया जाय और इधर उधर से बालू एकत्र कर दी जायें तो पानी की बूँदें एकत्र की जा सकती हैं और प्यासे पथिकों को जीवन-दान दिया जा सकता है।

वायुमण्डल से भी जल प्राप्त किया जा सकता है। जलशोषी पदार्थ यथा कैल्सियम क्लोराइड, सिलिका जेल तथा एथिलीन ग्लाइकोल को रात भर खुला छोड़ देने पर वे आर्द्रता ग्रहण कर लेते हैं जिन्हें सौर भट्टी में गरम करके जल निकाला जा सकता है।

शीतन

आजकल प्रशीतन एवं वायुअनुकूलन (Air Conditioning) की अत्यधिक माँग है और उसके लिये जो विधियाँ प्रयुक्त होती हैं वे अत्यन्त खर्चीली हैं अत: शीतन के लिये सौर-ऊर्जा के सम्प्रयोग की सर्वाधिक माँग है। कुछ ऊष्ण प्रदेशों में बिजली की लागत भी अधिक है। बिजली से चालित प्रशीतित्रों में अमोनिया की वाष्प द्रव में संघनित होती है और जो ऊष्मा निस्सृत होती है उसे चक्कर लगाने वाली वायु या जल के द्वारा वहिष्कृत करते हैं। द्रव पुनः वाष्पीकृत होता है और इस प्रकार से शीतन चालू रहता है। इनमें वाष्प को मोटर चालित पम्प से संपीड़ित किया जाता है। सौर प्रशीतन में अमोनिया का सान्द्र विलयन प्रयुक्त होता है जिससे उच्च वाष्प दाब उत्पन्न होता है और उसे संपीड़ित करने की आवश्यकता नहीं होती। एक दूसरे पात्र में द्रव अमोनिया में लवण का अत्यन्त सान्द्र विलयन होता है। अपने कक्ष में अमोनिया वाष्पीकृत होती है और लवण विलयन में विलयित होती रहती है। अब सौर विकिरण द्वारा लवण विलयन को उच्च ताप तक गरम किया जाता है जिससे इस कक्ष में अमोनिया का वाष्प दाब बढ़ जाता है। इससे शीतन उत्पन्न होता है। लवण विलयन के रूप में ७०% सोडियम थायोसायनेट को ३०% तरल अमोनिया में प्रयुक्त करते हैं। इसका वाष्प दाब १ वायुमण्डल से कम होता है जबकि शुद्ध द्रव अमोनिया का वाष्प दाब १० वायुमण्डल होता है। अमोनिया का चुनाव इसलिये किया जाता है क्योंकि इसकी वाष्पन ऊष्मा उच्च—३०० कैलारी ग्राम है और इसका क्वथनांक अत्यन्त निम्न (४०° से०) है।

उष्ण जलवायु में तरकारियों को सड़ने से बचाने के लिये विशेषत: आलू और टमाटर को सौर प्रशीतन उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यही नहीं, सिलिका जेल या अन्य लवणों के द्वारा वायुमण्डल की नमी को कम करके भी प्रशीतन उत्पन्न किया जा सकता है।

ऊष्मा इंजिन

सौर ऊर्जा से चालित इंजिन सिंचाई, रेडियो तथा ग्रामीण उद्योगों में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इन इंजिनों में न तो बायलर होगा, न ही जल फलतः चतुर चालकों की आवश्यकता नहीं होगी। वास्तव में ये उष्ण वायु इंजिन हैं। इनकी कठिनाई यही है कि सूर्य विकिरण को इंजन के भीतर तक पहुँचाना कठिन कार्य है। ऐसे इंजिनों से बिजली का उत्पादन सस्ता नहीं होता।

तालाबों के द्वारा शक्ति उत्पन्न करने की विधि होनहार प्रतीत होती है। इसमें एक एकड़ के क्षेत्रफल में

६ फीट गहराई तक जल भर कर तालाब की पेंदी को काले रंग से पोत दिया जाता है। फिर विशेष उपकरण द्वारा जल को सौर ऊष्मा के द्वारा ६०° तक गरम करके भाप इंजिन चालू किये जा सकते हैं।

विद्युत उत्पादन

सूर्य की विकिरण ऊष्मा को थर्मोकपल (Thermocouple) के एक सिरे को गरम करके तथा दूसरे को ठंडा करके सीधे बिजली में परिणत किया जा सकता है। थर्मोकपल दो भिन्न धातुओं को जोड़ कर बनाये जाते हैं।

सौर बैटरी (Solar battery)

सौर बैटरी का दूसरा नाम सिलिकन फोटोइलेट्रिक परिवर्तित्र है। इन बैटरियों के द्वारा ११ प्रतिशत सौर विकिरणों को बिजली में परिणत किया जा सकता है। इनके द्वारा ११००० A° से कम के ही विकिरण प्रयुक्त होते हैं। इनके लिये किसी प्रकार के संग्राहक की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु ये अत्यन्त कीमती हैं क्योंकि इन्हें विशुद्ध सिलिकन से तैयार किया जाता है। विचित्र बात तो यह है कि सिलिकन के एक क्रिस्टल से ही इसे तैयार करते हैं। इस क्रिस्टल को हीरे से काटकर इसे आर्सनिक तथा बोरन की वाष्प में रखा जाता है।

प्रकाश रसायन (Photo-chemistry)

सौर ऊर्जा का सदुपयोग ऊष्मा के रूप में ही नहीं होता वरन् प्रकाश के रूप में भी सौर ऊर्जा को संचित करके ईंधन की भाँति काम में लाया जा सकता है। प्रकाश-रसायनिक अभिक्रियाओं में प्रकाश ही उपयोगी है किन्तु इनमें सूर्य प्रकाश का केवल आधा अंश प्रयुक्त हो पाता है क्योंकि आधा अंश पराबैंगनी तथा दृश्य प्रकाश का होता है और शेष अवरक्त प्रकाश का, जिसका कोई उपयोग नहीं हो पाता।

किसी भी प्रकाश रासायनिक अभिक्रिया की मात्रा प्रकाश की तीव्रता, अवशोषक स्तर की मोटाई तथा अवशोषक पदार्थ की सान्द्रता पर निर्भर करती है। प्रकाश का प्रत्येक फोटान अवशोषित होकर एक अणु को उत्तेजित करता है जिसके कारण वह रासायनिक क्रिया में भाग लेता है किन्तु उसकी क्वांटम उपलब्धि कभी १ से कम होती है तो कभी १ से अधिक।

$$\text{क्वांटम उपलब्धि} = \frac{\text{अभिक्रिया करने वाले अणुओं की संख्या}}{\text{अवशोषित फोटानों की संख्या}}$$

गणना द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि १ एकड़ क्षेत्रफल में बने प्रकाशरासायनिक पदार्थ की मात्रा २×१०^{२८} क्वांटम या ३·६ टन प्रतिदिन होगी।

किसी भी प्रकाशरासायनिक पदार्थ में सौर ऊर्जा संग्रह होने के लिये आवश्यक है कि प्रकाशरासायनिक अभिक्रिया ऊष्माशोषी (endothermic) हो, क्वांटम उपलब्धि एक या इसके सन्निकट ही हो एवं प्रतिलोम अभिक्रिया अंधकार में हो सके जिससे तत्क्षण ऊर्जा की मुक्ति हो सके। दुर्भाग्यवश अधिकांश प्रकाशरासायनिक अभिक्रियायें ऊष्माक्षेपी (exothermic) हैं अत: वे प्रकाश के अवशोषण से द्रुत तो होती हैं किन्तु वे अभिकारी पदार्थों का निर्माण नहीं कर पातीं। ऐसी अभिक्रयायें ऊर्जा संग्रह की दृष्टि से बिल्कुल बेकार हैं। प्रकाशरासायनिक पदार्थों को दृश्य स्पेक्ट्रम के पूर्ण परास में प्रकाश का अवशोषण करते हुये प्रति ग्राम पदार्थ पर ५०-१०० कैलारी ऊर्जा संचित करनी चाहिए, साथी ही ऐसे पदार्थों को अत्यन्त सस्ता होना चाहिए।

ऐसी दशायें संश्लेषण में पाई जाती हैं। जीवित पौधे में हरित पदार्थ (क्लोरोफिल) के द्वारा सूर्य प्रकाश का अवशोषण होता है जिससे कार्बनडाइआक्साइड तथा जल का संयोग होता है। इसके फलस्वरूप कार्बोहाइड्रेट तथा आक्सीजन नामक पदार्थ बनते हैं। क्लोरोफिल के द्वारा सूर्य प्रकाश के पराबैंगनी अंश में भी प्रकाश संश्लेषण सम्भव है किन्तु प्रत्येक अणु के लिये इस प्रकाश के कम से कम तीन फोटान आवश्यक होंगे।

प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि ऐल्गी द्वारा

सूर्य प्रकाश का ३० प्रतिशत अवशोषित हो सकता है। यह अत्यन्त उच्च दक्षता है।

यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रकाश-संश्लेषण की भाँति ही अन्य क्रियायें भी ढूँढ निकाली जायं जिनमें सौर ऊर्जा की सदुपयोग हो सके।

कृषि के क्षेत्र में

यद्यपि सिंचाई, उर्वरकों के प्रयोग, कृमिनाशकों आदि के कारण अन्नोत्पादन में प्रचुर वृद्धि सम्भव हो सकती है किन्तु जिस गति से जनसंख्या वृद्धि कर रही है उसे देखते हुये यह मानना पड़ेगा कि सूर्य के प्रकाश का सदुपयोग करते हुये अधिक खाद्य पदार्थों के उत्पादन पर बल देना होगा।

भले ही हमें कृषि उत्पादन के क्षेत्र में प्रचुर सफलता दीखती हो किन्तु सूर्य के प्रकाश के सम्प्रयोग की दृष्टि से अत्यन्त न्यून दक्षता देखी जाती है। यदि यह मान लिया जाय कि प्रति एकड पर प्रतिवर्ष २ टन शुष्क कार्बनिक पदार्थ उत्पन्न होता है तो इससे वार्षिक सूर्य प्रकाश का ०.२% ही संचित होगा जबकि प्रतिदिन के सूर्य प्रकाश से इतना शुष्क पदार्थ तैयार हो सकता है।

एल्गा की खेती के द्वारा प्रोटीन युक्त खाद्य पदार्थ तैयार किया जा सकता है। कुछ पौदों के रसों को निचोड़ कर सुखाया जा सकता है जो प्रोटीन में धनी होंगे। यद्यपि प्रोटीनयुक्त खाद्य पदार्थ की प्राप्ति का प्रचलित साधन पशुओं को चारा खिलाकर माँस उत्पादन करने का है किन्तु यह अत्यन्त अपव्ययशील विधि है। कुछ देशों में ऐसा नहीं ही किया जा सकता। क्या ही अच्छा हो यदि रेगिस्तानों एवं खारी जलों वाले भागों में तरकारियाँ उगाई जा सकें। यदि आसुत जल के द्वारा तरकारियों को उगाने का कार्य प्रारम्भ किया जाय तो यह सम्भव न होगा क्योंकि तमाम जल तुरन्त भाप बनकर उड़ जावेगा। अतः पौदों को प्लास्टिक से आच्छादित करके उगाने का प्रयत्न होना चाहिये।

कुछ प्रकाशरासायनिक अभिक्रियायें ऐसी भी हैं जिसमें उत्पन्न इलेक्ट्रानों से बिजली उत्पन्न की जा सकती है। उदाहरणार्थ सूर्य प्रकाश में थायोनीन तथा फेरस आयन से फेरिक आयन एवं ल्यूकोथायोनीन बनते हैं। यदि प्रकाश हटा दिया जाय तो क्रिया पश्चदिशा में चालू हो जाती है। इस प्रकार एक दिशा से दूसरी दिशा में इलेक्ट्रानों का प्रवाह होता है और यदि विलयन में दो इलेक्ट्रोड रख दिए जायँ तो ०.४ वोल्ट का विभव उत्पन्न हो सकता है।

ऊष्मा का संचय

बालू की बजरी में तमाम ऊष्मा को धारण करने की शक्ति है। लोहा, तांबा, ऐल्यूमिनियम भी अच्छे चालक होने के कारण ऊष्मा धारण कर सकते हैं। कुछ यौगिकों में भी ऐसी शक्ति पाई जाती है। विशेषतः पिघलने तथा वाष्पन से सम्बन्धित परिवर्तनों के द्वारा तमाम ऊष्मा मुक्त होती है।

स्पष्ट है कि जहाँ साधन उपलब्ध हों, सौर ऊर्जा के दोहन के प्रयास होने चाहिए।

नवोदित लेखकों से वैज्ञानिक लेख विज्ञान में प्रकाशनार्थ आमन्त्रित हैं।—सम्पादक

तत्वों के आविष्कारक : ग्लेन टी० सीबर्ग

● ब्रजेश्वर प्रसाद शर्मा

रसायन विज्ञान के क्षेत्र में सन् १६४० तक केवल ६२ तत्वों का अस्तित्व ही ज्ञात था। तत्पश्चात् इस क्षेत्र का विकास करने का श्रेय और नये तत्वों के आविष्कार का सम्पूर्ण दायित्व जैसे एक उदीयमान रसायनज्ञ पर आ पड़ा था। ये वैज्ञानिक थे अमेरिका के ग्लेन टी० सीबर्ग जिन्होंने २८ वर्ष की अल्पायु में ही एक नये तत्व (आवर्त सारणी के अनुसार संख्या ६३) को खोज निकालने और उसके रासायनिक गुणों का अध्ययन करने में महान योगदान दिया था। एक बार जब उनसे उनके वैज्ञानिक कार्य का वर्णन करने के लिए कहा गया तब उन्होंने केवल इतना ही कहा था—"मैं नये तत्वों की खोज करता हूँ।"

यह उनके जीवन कार्य के केवल एक पक्ष का उद्घाटन करता है। सन् १६५६ में जब उन्हें संयुक्त राज्य परमाणु ऊर्जा आयोग का एनरिको फर्मी पुरस्कार प्रदान किया गया तब कहा गया था :

"नाभिकीय रसायन के क्षेत्र में डा० सीबर्ग मार्गदर्शकों में से हैं। इस क्षेत्र के एक महान नेता के नाते ही उन्हे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई है। कैनेडी और वाल के साथ उनके द्वारा आविष्कृत प्लूटोनियम तत्व तथा उस तत्व की रासायनिकता का स्पष्टीकरण विशेषत: जब वह तत्व बहुत थोड़ी मात्रा में उपलब्ध था, उनकी महान वैज्ञानिक सफलतायें हैं। इस कार्य से ही 'प्लूटोनियम रिएक्टर' चक्र सम्भव हो सका। प्लूटोनियम से अधिक भारी तत्वों के आविष्कार तथा उसके गुणों की छानबीन सम्बंधी डा० सीबर्ग की ताजी खोज ने नाभिकीय ढाँचे तथा भारी तत्वों के रसायन ज्ञान से सम्बंधित हमारी जानकारी में बहुत बड़ा योग दिया है।"

कई सालों तक यह समझा जाता रहा कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड के पदार्थ ६२ तत्वों द्वारा निर्मित हुए हैं। ये तत्व सबसे हल्के 'हाइड्रोजन' से लेकर सबसे भारी तत्व यूरेनियम तक माने जाते थे। तत्वों की तालिका में हाइड्रोजन का क्रमांक पहला और यूरेनियम का क्रमांक ६२ था। ये क्रमांक प्रत्येक तत्व में परमाणु के नाभिक (न्यूक्लीयस) में मौजूद प्रोटानों की संख्या या न्यूक्लीयस के गिर्द घूमते इलेक्ट्रानों की संख्या बताते हैं। जैसे आवर्तसारणी में किसी तत्व की परमाणु संख्या ११ है, तो इसका तात्पर्य यह होगा कि उस तत्व के न्यूक्लीयस में ११ प्रोटान होंगे और उस न्यूक्लीयस के गिर्द ऋण आवेशित ११ इलेक्ट्रान चक्कर लगा रहे होंगे। तत्व का परमाणुभार उसके एक परमाणु में निहित प्रोटानों और न्यूट्रानों की संख्या के योग के बराबर होता है। हाइड्रोजन के न्यूक्लीयस में केवल १ प्रोटान ही होता है अतः उसका परमाणु भार एक है और परमाणु संख्या भी एक है।

तत्वों की परम्परागत प्राभाषिक तालिका के बावजूद कई वैज्ञानिक मानने लगे थे कि और भी तत्व ऐसे हैं

जो अभी तक नहीं खोजे जा सके हैं। इन वैज्ञानिकों में ग्लेन सीबर्ग भी थे जिन्होंने यूरेनियम से भारी तत्व को खोज निकालना अपना ध्येय बना लिया था। इसमें उन्हें सफलता मिली और इस सफलता के लिए ही उन्हें सन् १९५१ में उनके सहयोगी डा० एडविन एम० मैकमिलन के साथ रसायनशास्त्र का नोबुल पुरस्कार मिला।

यूरेनियम से भारी तत्व खोज निकालने के लिए प्रथम प्रयास सन् १९४० में कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में हुआ। यह कार्य डा० मैकमिलन के नेतृत्व में वैज्ञानिकों के एक समूह ने किया था जिसके सबसे युवा सदस्य २८ वर्षीय सीबर्ग थे। विश्वविद्यालय के साइक्लोट्रान का उपयोग करके असंख्य न्यूट्रानों की धाराओं से यूरेनियम को विस्फोटित किया गया। ये न्यूट्रानों की सर्वसामान्य हाइड्रोजन के अतिरिक्त प्रत्येक तत्व के परमाणु के नाभिक में प्रगट होते हैं। कई प्रयत्नों के बाद मैकमिलन ने एक नया तत्व (आवर्तसारिणी के अनुसार संख्या ९३) खोज निकाला। यूरेनस की खोज के पश्चात् जिस पहले ग्रह का पता लगा था वह था नेपचून और उसी के नाम पर डा० मैकमिलन ने इस तत्व को 'नेपचूनियम' का नाम दिया।

उस समय द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो चुका था एवं अमरीका अपनी सुरक्षा के निर्माण में लगा हुआ था। डा० मैकमिलन को सर्वदर्शी (राडार) यन्त्र पर कार्य करने के लिए बुला लिया गया। उन्होंने भारी तत्वों के बारे में अपना अध्ययन कार्य डा० सीबर्ग को सौंप दिया जिन्होंने उसका शोध चालू रखा। सीबर्ग ने हाइड्रोजन के भारी समस्थानिक ड्यूटेरॉन से यूरेनियम को विस्फोटित किया जिसके फलस्वरूप तत्व संख्या ९४ का पृथक्करण सम्पन्न हुआ। प्रत्येक ड्यूटेरियम न्यूक्लीयस (ड्यूटेरॉन) में एक न्यूट्रान और एक प्रोटॉन होता है। इस तत्व का पहला नमूना आलपीन की नोंक के बराबर था तथा उसका वजन एक औंस के दस लाखवें हिस्से से भी कम था। प्लूटो के नाम पर आधारित इस नये तत्व का नाम प्लूटोनियम रखा गया। प्लूटोनियम विखंडनीय तत्व है तथा वह न्यूक्लीयस विस्फोटक या न्यूक्लीयस अभिक्रिया के लिए ईंधन का कार्य कर सकता है।

अपना कार्य जारी रखते हुए सीबर्ग ने कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के अपने सहयोगियों जेम्स और मार्गन के साथ सन् १९४४ के अंत में और सन् १९४५ के आरम्भ में दो अन्य नए तत्व खोज निकाले (तत्व संख्या ९५ व ९६)। डा० सीबर्ग ने इनका नाम क्रमशः अमरीकियम और क्यूरीयम रखा। उनका निर्माण विखंडन प्रयोगों के फलस्वरूप प्रयोगशाला में कुछ ही घंटों के लिए हुआ था। यह विखण्डन अल्फा कणों द्वारा सम्पन्न कराया गया था। ये कण सभी नाभिकीय वैज्ञानिकों द्वारा आमतौर से इस्तेमाल में लाये गए हैं। ये अल्फा कण हीलियम परमाणु के नाभिक हैं जो तत्वों को क्रमानुसार सजाने वाली आवर्तसारिणी में दूसरा तत्व माना गया है। अल्फा कण में २ प्रोटान और २ न्यूट्रान होते हैं, फलस्वरूप इसका भार ४ लिया गया है जबकि इस पर आवेश २ विद्युत् धनात्मक है। अल्फा कण सामान्यतः रेडियोऐक्टिवता में अलग हो जाता है।

सन् १९४९ तथा १९५० में डा० सीबर्ग तथा उनके सहयोगियों ने जिनमें डा० थौमसन और घियार्सो प्रमुख थे, बर्केलियम (तत्व सं० ९७) तथा कैलीफोर्नियम (तत्व सं० ९८) तत्वों का पता लगाया। इसके बाद इसी ग्रुप ने आइन्स्टीनियम (तत्व सं० ९९) फर्मियम (तत्व सं० १००), मैन्डिलिवियम (तत्व सं० १०१), तथा सन् १९५८ में नोबेलियम (तत्व सं० १०२) नामक तत्वों को खोज निकाला। तत्व सं० १०३ की खोज जिसको लारैन्सियम का नाम दिया गया है, सन् १९६१ के आरम्भ में कैलीफ़ोर्निया विश्वविद्यालय के ४ वैज्ञानिकों ने की थी।

अपने खोज कार्य की चर्चा करते हुए डा० सीबर्ग ने कहा था "सबसे रोमांचकारी घटना उस रात की

थी जिसमें अंततः १०१वें तत्व का पता लगा था। उदासीनता का वातावरण प्रयोगशाला में व्याप्त था। इस तत्व को खोज निकालने तथा उसके पहचानने के लिए हमने बड़ी सावधानी से कई प्रयोग किए परन्तु सबके सब विफल रहे। बाद में एक अंतिम प्रयोग उस आधार पर किया गया जो महज एक सुदूर सम्भावना जैसा था।"

"यह मानने के लिए कुछ कारण अवश्य थे," डा० सीबर्ग ने आगे कहा—"कि तत्व सं० १०१ के परमाणु का ह्रास एक या दो घंटे में तत्व सं० १०० के परमाणु के रूप में हो सकता है जो स्वयं भी विखंडन क्रिया में स्वतः खंडित हो सकता है। यदि यह अशक्य प्राय संयोग घटित हो गया तो तत्व सं० १०१ के निर्माण की सूचना भी मिल जायगी।

"स्पन्दन अभिलेखित्र पर हम आँखें गड़ाये सावधानी से देख रहे थे। प्रतीक्षा असह्य हो रही थी। तभी वह घटित हुआ। अभिलेखित्र की सुई मध्य स्केल तक पहुँची और एक बड़ी सी आयनीकरण स्पन्दन दिखाने वाली सुस्पष्ट लाल रेखा को अंकित करके वापिस लौट आई। (आयनीकरण तब होता है जब परमाणु से विद्युत अलग कर दिये जाते हैं और उसका विद्युतीय प्रभरण हो जाता है)। निरीक्षण का कार्य चालू रहा। एक घण्टे बाद सुई ने पहले स्पन्दन की भाँति एक दूसरा स्पन्दन अंकित किया। जब हमें इस बात का विश्वास हो गया कि तत्व सं० १०१ के दो परमाणुओं का क्षय हमने देख लिया हैं तथा हमने रासायनिक तत्वों में एक नये तत्व की वृद्धि की है।"

वर्तमान युग में एक अतीव महत्व का आधारभूत विकास हुआ है। रसायन शास्त्र का एक ओर तो नये भौतिक शास्त्र के साथ उत्तरोत्तर विलयन हुआ तथा दूसरी ओर उसका सम्बन्ध प्राणिशास्त्र एवं जीवन सम्बन्धी विज्ञानों के साथ भी बढ़ता गया।

भौतिकशास्त्र के साथ रसायन शास्त्र के योग का एक उदाहरण यह है कि रासायनिक तत्वों का अध्ययन बहुत कुछ रसायन शास्त्र के क्षेत्र से हटकर नाभिकीय भौतिकी में आ गया। प्राणिशास्त्र से रसायन शास्त्र का योग इस बात से साबित होता है कि जीवन और जीवनोपयोगी वस्तु के लिए उत्तरदायी पदार्थों की बनावट तथा कार्य का और भी अधिक अन्वेषण रसायन शास्त्र के अन्तर्गत करना पड़ रहा है। डा० सीबर्ग का कार्य नये भौतिक शास्त्र और रसायन शास्त्र के एकीकरण का एक दिलचस्प उदाहरण प्रस्तुत करता है क्योंकि नए रसायनिक तत्वों को खोज निकालने के लिए सीबर्ग को नाभिकीय भौतिक विज्ञानियों के शोधकार्य के लिए निर्मित साइक्लोट्रान नामक विशाल उपकरण का उपयोग करना पड़ा था।

सन् १९५८ में उनकी नियुक्ति कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में हुई। वहीं से उन्होंने रसायन शास्त्र में पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी तथा भारी तत्वों के बारे में अनुसंधान किया था। १९६१ के आरम्भ में जब उनकी आयु केवल ४९ वर्ष की थी वह संयुक्त राज्य परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष बनाये गए। वह एक उच्चकोटि के प्रशासक माने जते हैं और यह भी एक कारण है जिससे कक्षा और प्रयोगशाला से बुलाकर उनकी नियुक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थानों पर हुई।

भारत के महानतम वैज्ञानिक डा० होमी भाभा के अनन्य मित्र होने के नाते स्वयं स्वर्गीय वैज्ञानिक की प्रथम वर्षी में भाग लेने गत जनवरी १९६७ में भारत पधारे थे। भाभा परमाणु ऊर्जा संस्थान में उन्होंने डा० भाभा को अपनी श्रद्धांजलि निवेदित की थी। इसी दौरान उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा एक विशेष दीक्षांत समारोह में डी० एस-सी० (आनरेरी) की सम्मानित उपाधि से विभूषित करके उनके महान योगदान की सराहना की गई थी।

वैज्ञानिक अनुसंधान के प्रति अपनी आजीवन रुचि की चर्चा करते हुए वे कहते हैं : आंतरिक अनुभूतियों का पुरस्कार महान होता है। विज्ञान एक नया सीमान्त है और साहसिक कदम उठाना हम सबको प्रिय है।

●●

सार संकलन

भारत में व्यावहारिक विज्ञान

डा० आत्माराम

(३० नवम्बर १९६६ को कलकत्ते में वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद दिल्ली के महानिदेशक डा० आत्माराम द्वारा दिये गये २८वें आचार्य जगदीश चन्द्र बसु स्मारक भाषण का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर)

१. राष्ट्रीय विकास में विज्ञान की भूमिका

भारत के कुछ महान व्यक्तियों ने राष्ट्रीय विकास में विज्ञान की आवश्यकता को पहचाना था और इस पर स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व गम्भीरता से विचार भी किया था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद स्वर्गीय श्री जवाहर लाल नेहरू ने विज्ञान में अपना दृढ़ विश्वास प्रकट करते हुए कहा था : भूख और गरीबी की, अशिक्षा और बीमारी की, अन्धविश्वास और रूढ़ियों की, बेकार जाने वाले साधनों की, और प्राकृतिक साधनों से भरे-पूरे ऐसे देश के भूखे लोगों की, जो इस समय विज्ञान की उपेक्षा करने की स्थिति में हैं, समस्याओं का समाधान केवल विज्ञान द्वारा ही सम्भव है। पग-पग पर हमें विज्ञान की सहायता लेनी है। हमारा भविष्य विज्ञान और उसमें हमारी अभिरुचि पर ही निर्भर है।...इस कथन के लगभग दस वर्ष बाद देश में विज्ञान के तीव्र विकास के लिए प्रयत्न किए गए और नेहरू जी के इसी विश्वास के आधार पर १९५८ में वैज्ञानिक नीति का निर्धारण किया गया जिसमें कहा गया था कि राष्ट्रीय विकास में विज्ञान की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

अब वैज्ञानिक अनुसन्धान को दिनोंदिन अधिक सरकारी संरक्षण मिलता जा रहा है।

उन्नत देशों में लोगों के जीवन में विज्ञान और प्रायोगिकी ने यद्यपि क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिए हैं लेकिन नवोदित राष्ट्रों के लिए इनका उपयोग कर सकना आसान नहीं है। उनके समक्ष बड़ी कठिनाइयाँ हैं, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक बाधाएँ हैं। भारत जैसे देश में, जहाँ की अधिकांश जनता अभी अशिक्षित है, जन-साधारण के निमित्त निर्णय लेने की जिम्मेदारी मुख्यत: शिक्षित वर्ग पर आ पड़ती है। आज देश के आर्थिक विकास में विज्ञान के योगदान का उचित मूल्यांकन करने की आवश्यकता है।

२. मिथ्याबोध का कारण

वैज्ञानिक अनुभव करते हैं कि सार्वजनिक कार्यकर्त्ता, प्रशासक व उद्योगपति उनके वैज्ञानिक योगदान का सही मूल्यांकन नहीं करते। उद्योगपति समझते हैं कि भारतीय वैज्ञानिक यथार्थवादी नहीं हैं और केवल सैद्धान्तिक अध्ययन सम्बन्धी कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार एक ओर वैज्ञानिक हैं तो दूसरी ओर प्रशासक व उद्योगपति और इन दोनों वर्गों में उचित तालमेल की कमी है। एक दूसरे के कार्यों का सही मूल्यांकन न कर सकने का मुख्य कारण है उद्योग संबंधी वैज्ञानिक तौर-तरीकों की जानकारी की कमी। वैज्ञानिक ने जनता को अपने विशिष्ट कार्य से अवगत कराने की ओर ध्यान नहीं दिया है और न ही उद्योग ने विज्ञान की महत्ता को समझने का अधिक प्रयत्न किया है।

विज्ञान और प्रायोगिकी की भूमिकाओं के संबंध

में भी बहुत सी गलत धारणाएँ हैं। आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ देश विज्ञान में भी अग्रणी देखे गए हैं। इससे यह धारणा बन गई है कि विज्ञान में प्रधानता से उद्योगों में भी स्वत: ही प्रधानता प्राप्त हो जाती है। लेकिन ब्रिटेन के उदाहरण से यह धारणा सही सिद्ध नहीं होती। ब्रिटेन को विज्ञान में प्रधानता प्राप्त है किन्तु आर्थिक दृष्टि से उसकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। इसके विपरीत जापान का उदाहरण लीजिये। आधारभूत विज्ञान में यद्यपि उसे प्रधानता प्राप्त नहीं है किन्तु उसका औद्योगिक अर्थतंत्र ब्रिटेन की अपेक्षा कहीं अधिक मजबूत है।

हमारे देश में अधिकांश औद्योगिक अनुसंधान कार्य सरकार द्वारा स्थापित अनुसंधानशालाओं में केन्द्रित है। कुछ गिने-चुने उत्पादनकर्त्ताओं को छोड़ कर उद्योग-पतियों ने अभी हाल ही में अनुसंधान और विकास कार्य में कुछ रुचि दिखाई है। और यह कार्य भी विभिन्न उद्योगों की मिलीजुली सहकारी अनुसंधान संस्थाओं में किया जाता है। ऐसी सहकारी संस्थाओं का कार्यक्रम किसी अकेले कारखाने की प्रयोगशाला के कार्यक्रम से कुछ अलग किस्म का ही होता है। हमारे देश में तो सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकांश औद्योगिक प्रतिष्ठानों ने भी अपनी अनुसंधानशालाएँ स्थापित नहीं कीं। बल्कि उनमें तो देश की अन्य अनुसंधान-शालाओं से पृथक रहकर कार्य करने की प्रवृत्ति दिखलाई देती है।

प्रश्न उठता है कि भारत जैसे विकासशील देशों में वैज्ञानिकों और प्रतिनिधियों के क्या कर्त्तव्य होने चाहिये। मेरी राय में उन्हें देश की प्रमुख समस्याओं को हल करने में सहायक होना चाहिये। प्रमुख समस्या यह है कि देश के सीमित साधनों का जनता के हित के लिये, थोड़े से थोड़े समय में, कैसे अधिक से अधिक उपयोग किया जा सके ताकि देश के प्रत्येक व्यक्ति को खाना, कपड़ा, मकान व अन्य आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हो सकें। यदि हम इस कार्य में सहायक सिद्ध नहीं होंगे तो अपने कार्यों के लिए जनता की मांग उतनी सबलता से नहीं कर पाएगें।

३. आधारभूत अनुसंधान

मेरे उपरोक्त सुझावों से यह नहीं समझा जाना चाहिये कि मैं वैज्ञानिकों के आधारभूत अनुसंधान के विरुद्ध हूँ। बल्कि मैं तो विश्वविद्यालयों और अनुसंधान प्रतिष्ठानों में बौद्धिक दृष्टि से उच्चतम कोटि के कार्य की परम्परा स्थापित करना अनिवार्य रूप से आवश्यक समझता हूँ। किन्तु ऐसे कार्यों का प्रमुख उद्देश्य वैज्ञानिकों और टेक्नालाजिस्टों का प्रशिक्षण तथा वैज्ञानिक क्षमताओं का विकास करना होना चाहिये। विभिन्न वैज्ञानिक क्षेत्रों में आवश्यक क्षमताओं वाले असंख्य वैज्ञानिकों और टैक्नोलाजिस्टों के अभाव में उन समस्याओं का समाधान करना संभव नहीं होगा जिनकी चर्चा मैंने ऊपर की है। हमारी वैज्ञानिक शिक्षा को एक नया मोड़ देकर उत्पादन-उन्मुख बनाना आनन्ददायी होने के साथ-साथ फलदायक भी होगा।

किसी विकासशील देश में कच्चे माल के स्रोतों और उनके समुचित मूल्यांकन संबंधी प्रामाणिक जान-कारी उपलब्ध करना सर्वाधिक महत्व की बात होती है। वैज्ञानिक जानकारी के विकास और नए उत्पादों व विधियों की प्राप्ति के लिये विज्ञान के उपयोग का प्रश्न महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ बहुत जटिल भी है क्योंकि यह अनेक कठिन समस्याएँ भी खड़ी करता है। अनु-संधान के निष्कर्षों का औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने में उपयोग करने की प्रक्रिया बहुत लम्बी है। इसमें मौलिक और व्यावहारिक अनुसंधान, प्रायोगिक संयंत्र लगाना, डिजाइन तैयार कर उपकरणों का निर्माण और कार-खाने की स्थापना जैसी इंजीनियरी की समस्या, उत्पादन और इसके पश्चात तैयार माल के विपणन का सिल-सिला शामिल है। प्रक्रियाओं की इस शृंखला से गुजरे बिना कोई भी अनुसंधान कार्य वास्तविक उत्पादन में परिणत नहीं होता।

एक अन्य बात यह है कि हमारे देश में स्वदेशी

प्राद्योगिकी को पश्चिम की अत्यधिक विकसित व बेहद धनी देशों की प्राद्योगिकी से लोहा लेना है। देखना है कि यह उसके मुकाबले में ठहर भी पाती है या नहीं। यह बड़ा विवादास्पद प्रश्न है किन्तु मैं समझता हूँ कि इस पर राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करना चाहिये।

संसार में आज की विकास की स्थिति को देखते हुए प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नितांत आत्मनिर्भरता संभव नहीं है। प्रत्येक देश के पास किसी विशिष्ट क्षेत्र के संबंध में ऐसी जानकारी है जो अन्य देशों के पास नहीं और लगभग सभी देश न्यूनाधिक मात्रा में अन्य देशों से प्रौद्योगिकी के ज्ञान का विनिमय करते हैं। मैं अन्य देशों से प्रौद्योगिकी का ज्ञान खरीदने अथवा उधार लेने के विरुद्ध नहीं हूँ। मैं तो समझता हूँ कि हमें इस बारे में नितांत यथार्थवादी होना चाहिये और विदेशी प्रौद्योगिकी का आयात तभी करना चाहिये जबकि उपर्युक्त स्वदेशी प्रौद्योगिकी उपलब्ध हो। उधार लेना बंद करने के लिए उधार लेने में कोई हानि नहीं लेकिन उधार लेते रहने के लिए उधार लेना बहुत हानिकारक है। अतः भारत में आज हमें अभ्यनुकूलन अनुसंधान की जरूरत है—सुनिर्देशित सतत अनुसंधान की, जिससे कि हम पाते हुए प्रौद्योगिक लाभ को अपनी परिस्थितियों ढाल सकें।

४. प्रौद्योगिकी का चयन

गांधी जी कहा करते थे कि विशाल मात्रा में बीजों के उत्पादन की अपेक्षा जन-जन द्वारा उत्पादन की आर्थिक स्वीकृति से हमारा उद्धार करेगा। श्रेष्ठता और उपयुक्तता का एक ही स्थान पर पाया जाना आवश्यक नहीं है। विशाल मात्रा में उत्पादन के तौर-तरीकों के अधिक पूंजी और कम श्रम की आवश्यकता होती है। मगर हमारे देश की परिस्थितियां इससे ठीक उल्टी हैं। यहाँ पूंजी की कमी और श्रमिकों का बाहुल्य है और विदेशी मुद्रा की तो हमारे पास बहुत ही कमी है। अतः हमें ऐसी टैक्नालाजी का विकास करना अथवा विदेश से आयात करना है, जो पचास करोड़ लोगों के रोजगार देने में समर्थ हो।

प्रौद्योगिकी को बाहर से मँगा कर यहाँ रोप देने मात्र से ऐसी क्षमता का विकास नहीं हो पाता। यह विचारणीय है कि आयात की हुई नवीनतम टैक्नालाजी के इस्तेमाल के बाद भी हमारे अनेक उद्योग दक्षता-पूर्वक कार्य नहीं कर रहे हैं। वे न तो आर्थिक दृष्टि से सफल हैं और न ही विदेशी होड़ का मुकाबला कर पा रहे हैं। बात यह है कि हमारे कारखाने अपना माल लिए बाजार में बेचते हैं वह उनके लिए रक्षित है। यदि इस प्रकार की रक्षा व्यवस्था न रहे तो हमारे अधिकांश उद्योग लड़खड़ा जायेंगे। इसका मूल कारण यह है कि हम अपनी आवश्यकताओं के अनुसार प्रौद्योगिकी सम्बन्धी क्षमता का विकास नहीं कर पाए हैं। प्रतिस्पर्धा से बाध्य होकर नई प्रौद्योगिकी के विकास की प्रेरणा मिलती है। हमारे देश में इसका अभाव ही रहा है। कुछ लोग कहते हैं कि स्वदेशी उद्योगों में प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न करने के लिए विदेशों से माल मँगाना चाहिए। मेरे विचार से ऐसा करना आवश्यक नहीं है क्योंकि स्वयं देश में ही उद्योगों में परस्पर प्रतिस्पर्धा की भावना जगायी जा सकती है। निर्यात बढ़ाने की दृष्टि से तो यह और ही आवश्यक है। प्रतिस्पर्धा के कारण हमारे उद्योगपति अपने लाभ के लिए विज्ञान और प्राद्योगिकी का अधिकाधिक उपभोग करेंगे और इससे उद्योगों की दशा सुधरेगी।

विज्ञान वार्ता

१. श्वास लेने वाला मनुष्य का पुतला

अमेरिका में आजकल प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले चिकित्सक मनुष्य के आकार के एक ऐसे पुतले की सहायता से चिकित्सा एवं शल्य-चिकित्सा की जटिल विधियां सीख रहे हैं जिसका गणनायन्त्र द्वारा नियन्त्रण होता है। इस पर अनेक प्रकार से बिल्कुल वैसी ही प्रतिक्रियाएँ होती हैं जैसी किसी रोगी व्यक्ति पर होती हैं।

इसका हृदय स्पन्दन करता है, नाड़ियां चलती हैं और रक्त का दबाव होता है। इसका वक्षःस्थल ऐसे हिलता है मानो यह श्वास ले रहा हो। इसकी आँखें फैलती और पलकें झपकती रहती हैं। मुख खुलता है और बन्द हो जाता है और और उसमें दाँत, एक जिव्हा और वे सब चीजें विद्यमान हैं, जो मनुष्य के मुख और गले में पायी जाती हैं।

सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उस पुतले में विभिन्न औषधियों की वैसी ही प्रतिक्रियाएँ होती हैं जैसी कि मनुष्यों पर होती हैं।

उक्त पुतले का नाम सिम वन (सिम्युलेटर) रखा गया है और इसका मुख्य उद्देश्य चिकित्सकों को रोगी को बेहोश करने की विधियों का प्रशिक्षण देना है।

यह चिकित्सकों को 'एण्डोट्रेचील इण्टेयुबेशन' नामक उस जटिल विधि का प्रशिक्षण देने के लिए विशेष रूप में उपयुक्त है, जिसके अन्तर्गत रोगी के फेफड़े में सीधे बेहोशी कर देने वाली गैसें पहुँचाने के लिए उसकी श्वास की नली में एक ट्यूब सरकानी पड़ती है। आजकल अधिकांश रोगियों की शल्य-चिकित्सा करते समय इस विधि का प्रयोग किया जाता है।

इससे पूर्व, रोगी को बेहोश करने की नाजुक विधि को भली प्रकार से सीखने में कम से कम तीन महीने लग जाते थे, किन्तु केवल दो दिन में सिम वन विधि की शिक्षा प्राप्त की जा सकती है और इस विधि का अवसर दो दिन में अभ्यास हो जाता है।

जब प्रशिक्षण प्राप्त करने वाला चिकित्सक सिम-वन विधि का अभ्यास करता है, तब शिक्षक किसी केन्द्रीय स्थान से प्रत्येक कार्यवाही की देखभाल कर सकता है। शिक्षक प्रशिक्षणार्थी के साथ बातचीत कर सकता है, जितने समय के लिए चाहे किसी भी समय बेहोश करने की कार्यवाही को रोक सकता है, फिर वहीं से अथवा नये सिरे से उस कार्यवाही को प्रारम्भ कर सकता है। किन्तु एक रोगी को बेहोश करते समय ऐसा करना असम्भव होगा।

समूची कार्यवाही के दौरान, पुतले पर जैसी प्रतिक्रिया होती है वैसी बेहोश करते समय किसी रोगी पर हुआ करती है। प्रशिक्षक पुतले की सहायता से प्रशिक्षण देते समय अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाल सकता है। उपयुक्त बटनों को दबा कर प्रशिक्षक पुतले के हृदय की गति रक्त के दबाव और श्वास लेने की क्रिया को बढ़ा अथवा घटा सकता है। पुतले से वमन करायी जा सकती है, उसके हृदय की गति को रोका जा सकता है अथवा उसमें विभिन्न प्रकार की अन्य प्रतिक्रियाएँ दर्शायी जा सकती हैं।

लौस एंजेलेस काउण्टी अस्पताल स्थित दक्षिणी कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के स्कूल औव् मैडिसिन द्वारा सिम-वन विधि का प्रयोग किया जा रहा है। आशा है कि भविष्य में प्रशिक्षण कार्य के लिए व्यापक रूप में ऐसे पुतलों का प्रयोग किया जाने लगेगा।

आशा है कि भविष्य में प्रयोग में आने वाले पुतलों में रक्त का संचार होगा, उनके शरीर से पसीना निकलेगा और सम्भवत: वे कराह भी सकेंगे।

२. कोयले से गैसोलिन

अमेरिकी इंजिनियरों ने कोयले को गैसोलिन में परिणत करने के लिए एक अनोखा औद्योगिक संयन्त्र विकसित किया है। उन्हें आशा है कि ३ बाल्टी कोयले से वे १ बाल्टी गैसोलिन तैयार कर सकेंगे।

यह इस प्रकार का विश्व में पहला संयन्त्र है। यह कोयले से गैसोलिन का उत्पादन इस प्रकार करने के लिए प्रयत्नशील है ताकि वह खनिज तेल के उत्पादों से लाभकर ढंग पर प्रतियोगिता कर सके। यदि संयन्त्र सफल रहा तो अमेरिका की प्रारक्षित द्रव इंधन-शक्ति की अवधि में सैकड़ों वर्षं की वृद्धि हो जायेगी।

नई विधि का मुख्य उत्पादन द्रव पैट्रोलियम है, किन्तु कम गंधकयुक्त जला हुआ कोयला इसका एक महत्वपूर्णं उपोत्पाद है, जिसके कारण कोयला विद्युत् उत्पादन के लिए एक लाभकर ईंधन बन जायेगा।

इस विधि में प्रयुक्त हाइड्रोजन बाहर से लाया जाता है, किन्तु भविष्य में इसका एक उपोत्पाद पर्याप्त हाइड्रोजन उत्पन्न कर सकेगा। आशा है कि इस विधि द्वारा १२ से १३ सेण्ट प्रति गैलन की दर से गैसोलिन का उत्पादन होने लगेगा।

३. तूफानों पर नियंत्रण

एक अमेरिकी वैज्ञानिक ने एक नये उपाय की खोज की है। उनका विश्वास है कि इस उपाय द्वारा तेज अंधेड़ों को छिन्न-भिन्न करके उनके द्वारा होने वाली क्षति को रोका जा सकता है। कैलिफोर्निया स्थित अमेस रिसर्चं सेण्टर के डा० वर्नोन जे० रोसौ द्वारा प्रयोगशाला में उत्पन्न किये गये एक सूक्ष्म अंधड़ पर प्रक्रिया की जाँच की गयी है। डा० रोसौ ने ही उक्त सिद्धान्त का विकास किया है। अभी तक वास्तविक अन्धड़ पर उक्त उपाय की जाँच नहीं की गयी है।

डा० रोसौ का यह विश्वास है कि उन्होंने प्राचीन काल से चली आ रही इस पहेली को हल कर दिया है कि तेज अन्धड़ क्यों उत्पन्न होता है और वायु एक कीप के आकार के बादल के रूप में परिणत होकर कई सौ मील प्रति घण्टे की गति से क्यों चलने लगती है।

तीव्रगामी अंधड़ों से ऐसे जल कण उत्पन्न होते हैं जो धन विद्युत् और ऋण विद्युत् होते हैं। यदि ऐसे दो बादल लगभग एक मील के अन्तर से एक दूसरे समानान्तर हों, तो ऋण विद्युत् बादल की ओर धन विद्युत् जलकणों का प्रवाह और धन विद्युत् बादल की ओर ऋण विद्युत् जलकणों का प्रवाह उत्पन्न हो सकता है।

इसके परिणामस्वरूप एक दूसरे की ओर तेजी से बहने वाली जल कण की धारायें तीव्रगति से घूमने लगती हैं और इस प्रकार एक ऐसा अन्धड़ बन जाता है जो उस समय तक तेजी से चक्कर खाता रहता है जब तक कि विद्युत् कणों का उपलब्ध होना बन्द नहीं हो जाता है।

डा० रोसौ यह सुझाव देते हैं कि इस क्रम को रोकने के लिए ४० मिलीमीटर व्यास की तोप से अन्धड़ के बादल में बहुत-सी तारों वाली गोलियाँ फेंकी जायें। जैसे ही वे गोलियाँ बादल में प्रविष्ट होंगी, ऐसे छोटे पेराशूटों को मुक्त करने के लिए गोलियों के मुख खुल जायेंगे और उनसे निकल कर दो मील लम्बी इस्पात की तारें फैल जायेंगी। उन तारों से ऐसी विद्युत् उत्पन्न होती है जो अंधड़ के चुम्बकीय क्षेत्र को कम कर देती हैं और इस प्रकार वह शक्ति जाती रहती है जिससे अन्धड़ शुरू होकर जारी रहता है।

४. पानी को ऊर्ध्वगामी बनाने वाली विधि

अमेरिका में साधारण पानी में इलास्टिक जैसा खिंचाव पैदा करने की विधि का आविष्कार कर लिया गया। साधारण पानी में जब बहुत ही थोड़ी मात्रा में यह चूर्णं मिला दिया जाता है तो उससे पानी में एक चमत्कारिक गुण पैदा हो जाता है। दूसरे शब्दों में, यदि चूर्णं मिले पानी को एक पात्र से दूसरे पात्र में

थोड़ा सा उड़ेला जाता है और पहले पात्र को पुनः सीधा कर लिया जाये तो उस पात्र का पानी अपने आप ही दूसरे पात्र में जाता रहता है जब तक कि वह पात्र बिल्कुल खाली नहीं हो जाता। उड़ेलते समय जो धार बनती है वह प्रवाहित होती रहती है यद्यपि पहले पात्र का मुख ऊपर कर लिया जाता है।

ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उपर्युक्त पाउडर देने से पानी में एक प्रकार का इलैस्टिक जैसा खिचाव पैदा हो जाता है जिससे उसका एक अंश जो दूसरे पात्र में उड़ेला जाता है वह पहले पात्र को सीधा कर लेने पर भी शेष पानी को अपने आप खींच लेता है।

यह खोज एक २७-वर्षीय अमेरिकी, डेविड जेम्स, ने की है। श्री जेम्स पैसाडीना स्थित कैलिफोर्निया इन्स्टिट्यूट ऑव टेकनोलोजी में मैकेनिकल इंजिनियरिंग के सहायक अध्यापक हैं। पालिमेर के व्यूहाणु जो पानी में यह गुण पैदा कर देते हैं विशेषतः लम्बे और परस्पर लिपटे हुए होते हैं।

५. अद्भुत थर्मामीटर

अमेरिका में हीरे से एक ऐसे थर्मामीटर का निर्माण हुआ है, जिसकी तापमान-मापन क्षमता अद्वितीय है।

यह ३२५ अंश फारेनहाइट (१६८ अंश सेण्टीग्रेड) जैसे न्यून तापमान को, जिस पर गैसें गल कर द्रव बन जाती हैं, १,२०० अंश फारेनहाइट (६४६ अंश सेण्टीग्रेड) जैसे ऊँचे तापमान को, जिस पर धातुएँ तप्त होकर लाल-लाल चमकने लगती हैं, अंकित कर सकता है।

थर्मामीटर का तापमान-टोहक तत्व विशेष रूप से निर्मित कृत्रिम हीरे का नन्हा टुकड़ा है।

यह हीरा बिजली को 'अर्द्ध-संचारक सीमा' में संचालित करता है, जिसका यह आशय है कि यह इन्सुलेटिंग सामग्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर ढंग पर बिजली को संचारित करता है, किन्तु धातुओं की तरह अच्छी तरह नहीं।

हीरे का विद्युत-निरोध तापमान के घटने या बढ़ने के साथ-साथ बढ़ता या घटता है। अन्य शब्दों में, तापमान जितना ही कम होता है, उतने ही अधिक सक्षम ढंग पर हीरा बिजली को संचारित करता है।

विद्युत्-संचारकता सम्बन्धी ये परिवर्तन तापमान सम्बन्धी परिवर्तन के अनुपात में ही सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार, वे किसी विशेष समय पर हीरे की विद्युत् संचारकता की टोह लेकर ही तापमान का सही माप लेना सम्भव बना देते हैं।

यह उपकरण भद्दा है, और क्षरण निरोधक होता है। आशा है कि यह द्रव पदार्थों का तापमान सामने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त सिद्ध होगा। सम्भवतः यह उद्योग और अनुसन्धान के क्षेत्र में सम्वेदनशील और नियंत्रक उपकरणों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। इसका प्रयोग अन्तरिक्षीय अनुसंधान के क्षेत्र में भी हो सकता है।

इस तरह के नन्हें तापमान-टोहक यंत्र, जिन्हें 'थर्मामीटर' कहते हैं, जर्मेनियम, सिलिकोन कारबाइड और पोलीक्रिस्टैलाइन ऑक्साइड जैसी अन्य अर्द्ध संचारक सामग्रियों से भी बनाये गये हैं। इनका उपयोग चूल्हे से लेकर अंतरिक्षयान तक, सैकड़ों प्रकार से हुआ है। किन्तु उनमें से कोई भी तापमान का उतनी सीमा तक सही-सही माप नहीं कर सकता, जितना हीरे का 'थर्मामीटर' कर सकता है।

प्रकृति में अर्द्धसंचारक हीरे अत्यन्त दुर्लभ हैं। वे कुल प्राकृतिक हीरों के १ प्रतिशत से भी कम मात्रा में उपलब्ध हैं। नये थर्मामीटर थोड़े ही दिनों में बड़े पैमाने पर उपलब्ध हो जायेंगे।

●●

शिक्षा का माध्यम एवं भाषा सम्बन्धी नीति

१५ अगस्त को हमें स्वाधीनता प्राप्त हुये पूरे बीस वर्ष हो चुके। इस दीर्घ अवधि में हमने क्या-क्या उपलब्धियाँ कीं और क्या-क्या खोया, इसका अत्यन्त विस्तृत लेखा जोखा प्रस्तुत किया जा सकता है किन्तु यहाँ उन सबके लिये अवकाश नहीं। यहाँ तो केवल शिक्षा सम्बन्धी उपलब्धियों का ही विवेचन वांछनीय है।

केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री, माननीय त्रिगुण सेन, ने अपने पद ग्रहण के दिन से ही यह कहना प्रारम्भ कर दिया था कि देश में प्रत्येक स्तर पर शिक्षा का माध्यम किसी न किसी क्षेत्रीय भाषा को ही होना चाहिए। शायद यह उनकी उतनी मौलिक सूझ न थी जितनी कि जनतन्त्र की विकासवादी परम्परा को अग्रसर करने में एक अपरिहार्य आवश्यकता थी। इसी आधार पर उन्होंने यह घोषणा की थी कि १०० वर्षों के बाद भारतीयों की वह कल्पना साकार होने जा रही है जिसे उन्होंने अंग्रेजी शासन-काल में पहले पहल प्रस्तुत किया था।

शायद शिक्षा-मन्त्री की इस घोषणा को या तो धमकी समझ कर अथवा इससे लाभ उठाने की दृष्टि से हिन्दी विरोधी लोगों ने दिल्ली में यह मोर्चाबन्दी प्रारम्भ की कि नेहरू तथा शास्त्री जी द्वारा दिये गये आश्वासनों से सरकार पीछे हट रही है और इससे अहिन्दी राज्यवासियों का अहित होगा। शायद क्षेत्रीय भाषाओं का विरोध इस तीव्रता को न प्राप्त कर पाता यदि हिन्दी उत्तर भारत के कई राज्यों की क्षेत्रीय भाषा न होती। दक्षिणी भारत के लोगों को क्षेत्रीय भाषाओं से इसीलिये शंका हुई और इस प्रतिक्रिया में न जाने कितने मुख्य मन्त्रियों, शिक्षाशास्त्रियों एवं विश्वविद्यालय के अध्यापकों ने क्षेत्रीय भाषाओं के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करते हुये अपने अंग्रेजी-प्रेम की धारा प्रवाहित कर दी। शायद अंग्रेजों के रहते हुये इस देश में इतना गहरा प्रेम अंग्रेजी के प्रति इतने लोगों ने इस तीव्र स्वर में कभी नहीं प्रकट किया। अत: यह निश्चित रूप से मानसिक पराधीनता का सूचक है।

विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी न बने, इसलिये क्षेत्रीय भाषाओं पर बल दिया गया किन्तु राजनीतिज्ञों को इसमें भी चाल दीखी तो वे उलट कर अंग्रेजी के हिमायती बन गये। उन्होंने एक बार भी व्यावहारिक पक्ष पर ध्यान नहीं दिया। देश के न जाने कितने विद्यार्थी कालेजों में हिन्दी के माध्यम से समस्त विषयों का अध्ययन करके जब विश्वविद्यालय में पहुँचेंगे तो उनकी क्या दशा होगी। उनके शिक्षा-स्तर को तब अंग्रेजी के माध्यम से उठाया जावेगा या नष्ट किया जावेगा ?

शायद विश्वविद्यालय के कुछ शिक्षक भी हिन्दी के प्रवेश पा जाने पर अपने को हिन्दी माध्यम से पढ़ाने में सक्षम नहीं पावेंगे इसीलिये वे हिन्दी का विरोध कर रहे हैं किन्तु सर्वत्र हिन्दी का ही तो विरोध नहीं होगा वह होगा उनकी क्षेत्रीय भाषा का जिस पर उनका अधिकार होना चाहिए।

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि बिना क्षेत्रीय भाषाओं के प्रवेश के विश्वविद्यालयों के द्वारा देश तथा काल की ज्वलन्त माँगों को पूरा नहीं किया जा सकता। जो लोग अंग्रेजी को विश्व भर में समझी जाने वाली भाषा कह कर उसका समर्थन करते हैं वे जनता को बहकावा दे रहे हैं। चीन, रूस, जर्मनी, फ्रांस आदि में उनकी अपनी भाषाएँ हैं या अंग्रेजी भाषा ? क्या उनकी प्रगति नहीं हुई है ?

काश कि भाषा समस्या को राजनीतिक समस्या न बनाकर उसे देश की मूलभूत समस्या के रूप में हल करने का अविलम्ब प्रयास किया जाता !

जय हिन्दी ! जय नागरी ! क्षेत्रीय भाषायें अमर हों !!

विज्ञान

अक्टूबर १९६७

४० पैसे

विज्ञान परिषद, इलाहाबाद

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजनात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसविन्तीति। तै० उ० ३।५

भाग १०४ | आश्विन २०२४ विक्र०, १८८९ शक अक्टूबर १९६७ | संख्या १०

एक परावैज्ञानिक साम्य का वैज्ञानिक अध्ययन

● माधुरी जायसवाल

(संक्षेप—इस लेख में "चेतना" का अध्ययन प्रावस्था-नियम के आधार पर किया गया है। समानता तथा वैज्ञानिक तर्कों द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि "चेतना" की एक ऐसी अवस्था सम्भव है, जिसमें भूत, वर्तमान तथा भविष्य युगपत सहअस्तित्व रख सकें। कदाचित् "चेतना" की इसी अवस्था को प्राचीन साहित्य में "त्रिकालज्ञता तथा सर्वज्ञता" कहा गया है।)

मानव को अन्य जीवधारियों से "विशिष्ट" सिद्ध करने का श्रेय मुख्यत: उसके ज्ञान अथवा "विकसित चेतना" को है। वैज्ञानिक, स्वयं द्वारा देखे अथवा प्रतीत किए गये प्रेक्षणों को ही सत्य मानता है। जिसका दर्शन या प्रतीति नहीं हो सकती है अथवा नहीं हुई है, उन वस्तुओं अथवा शक्तियों का वैज्ञानिक-संसार में कोई स्थान नहीं। इसी कारण वैज्ञानिक आत्मा, ईश्वर, अध्यात्म आदि में विश्वास नहीं करता। परन्तु "मानव-चेतना" की प्रतीति तो प्रत्येक व्यक्ति को होती है; फिर सूक्ष्म-द्रष्टा वैज्ञानिक को तो और भी सूक्ष्मतापूर्वक होगी। अत: "मानव चेतना" में वह अविश्वास नहीं कर सकता। निम्नलिखित पंक्तियों में इसी "चेतना" की विभिन्न अवस्थाओं तथा उसे प्रभावित करने वाले कारकों का वैज्ञानिक-अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

जिस प्रकार विज्ञान में किसी तंत्र (उदाहरणार्थ-जल तंत्र) तथा उसको प्रभावित करने वाले कारकों (ताप तथा दाब) का अध्ययन "प्रावस्था-नियम" द्वारा किया जाता है, नीचे की पंक्तियों में "चेतना-तंत्र" का अध्ययन, ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

जल एक निश्चित रासायनिक यौगिक है। उसे आप चाहे जिस स्रोत से प्राप्त करें, (यदि वह शुद्ध जल है, तो) उसका संघटन वही का वही रहेगा—H_2O. उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इससे न्यून भी कुछ नहीं। इस कारण जल "एक-घटक तंत्र" है। एक घटक तंत्र होने के कारण, इसकी अवस्था पर, सांद्रता-परिवर्तन का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। इसकी अवस्था पर जिन अन्य दो कारकों का प्रभाव पड़ता है वे हैं १. ताप २. दाब।* इनमें से किसी में भी परिवर्तन किए जाने के फलस्वरूप, जल की अवस्था परिवर्तित हो सकती है।

इन दोनों कारकों में से प्रथम (ताप) से प्रायः सभी

*जल (H_2O) की अवस्थाएँ हैं—१. हिम (ठोस) २. जल ३. जल वाष्प (गैसीय)।

मनुष्य परिचित रहते हैं, जब कि द्वितीय (दाब) से प्राय: वैज्ञानिक ही परिचित हैं। कारण यह है कि, जन साधारण को जितना भी जल प्राप्त होता है, वह प्राय: एक निश्चित दाब (वायु-मंडलीय दाब) पर ही प्राप्त होता है। इसमें परिवर्तन करने की विधि से वह अपरिचित है तथा सामान्य जीवन यापना में जल के दाब परिवर्तन की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। ताप-परिवर्तन की विधियाँ उसे ज्ञात रहती हैं, वह जल को नित्यप्रति तापित करता भी रहता है। तभी उसका प्रेक्षण है कि जल (H_2O)—

१. निम्न तापों पर "हिम" (ठोस अवस्था) होता है।

२. सामान्य तापों पर "जल" (द्रव अवस्था) होता है तथा

३. उच्च तापों पर "जल-वाष्प" (गैसीय अवस्था) होता है।

तथा उपयुक्त ताप परिवर्तनों द्वारा जल (H_2O) का एक रूप अन्य में परिवर्तित कर दिया जा सकता है।

यह धारणा सत्य है, यदि इस प्रतिबंध के सहित उल्लेख किया जाए, कि, "स्थिर वायुमंडलीय दाब पर।"

यदि जल-तंत्र के ताप परिवर्तन के साथ-साथ उसका दाब भी परिवर्तित किया जाए, तो चित्र ही बदल जाता है। स्थिति इतनी सरल नहीं रहती। हिम, ताप, दाब के बाईं ओर के परिसर में ही पाया जाता है तथा इसी प्रकार जल ऊपर की ओर के ताप दाब परिसर में तथा जल-वाष्प केवल रेखा के नीचे की ओर के ताप दाब परिसर में इसके अतिरिक्त जल (H_2O) की दो प्रावस्थाएँ-हिम तथा जल-वाष्प में अनन्तकाल तक सह अस्तित्व रखती हैं। इसी प्रकार जल (H_2O) की अन्य दो प्रावस्थाएँ हिम तथा द्रव्य जल अनन्तकाल तक सह अस्तित्व रखती हैं तथा जल तथा जल-वाष्प अनन्तकाल तक साम्य में स्थित रहती हैं। परन्तु इस तंत्र का सबसे महत्वपूर्ण भाग उपर्युक्त क्षेत्र (जिनमें केवल एक-एक प्रावस्थाएँ साम्य में स्थित हैं) अथवा रेखाएँ (जिनमें दो-दो प्रावस्थाएँ साम्य में स्थित हैं) नहीं हैं; परन्तु त्रिक् बिन्दु है। इस बिंदु पर जल (H_2O) की तीनों प्रवस्थाएँ-हिम, जल तथा जलवाष्प अनन्तकाल तक साम्य में स्थित रहते हैं, क्योंकि इस बिन्दु पर तीनों क्षेत्रों की सीमाएँ मिलती हैं तथा तीनों रेखाएँ भी मिलती हैं। इसी कारण इसे **"त्रिक बिन्दु"** कहते हैं।

चेतना-तंत्र भी प्राय: जल तंत्र के समान ही है। चेतना भी एक एवं अखंड है। इसे प्रभावित करने वाले कारक भी दो हैं :—

१. सामान्य परिस्थितियाँ—इसके अन्तर्गत "मानव चेतना"* को प्रभावित करने वाली सभी सामान्य परिस्थितियाँ—

(अ) उसके मस्तिष्क का विकास (आ) उसका विद्या-अध्ययन (इ) उसका व्यावहारिक ज्ञान (ई) उसके जीवन यापन की अवस्था आदि आ जाती हैं। सभी मनुष्य इस परिस्थिति की कुछ न कुछ मात्रा से संपन्न होते हैं व स्वयं के उद्योग द्वारा इसकी मात्रा बढ़ा-घटा सकते हैं। इसी कारण इसे "सामान्य परिस्थिति" कहा है। इसकी तुलना हम जल-तंत्र के कारक "ताप" से कर सकते हैं।

२. विशेष परिस्थितियाँ— जल तंत्र के दूसरे कारक; "दाब" के समान "चेतना-तंत्र" का दूसरा कारक है। जिस प्रकार जन साधारण को जल एक निश्चित दाब (वायुमंडलीय दाब) पर ही प्राप्त होता है तथा इस कारण उसे "दाब" का ज्ञान नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार जनसाधारण को "चेतना" एक निश्चित (सांसारिक) परिस्थिति में ही प्राप्त होती है। अत: उन्हें चेतना की "विशेष परिस्थितियों" का ज्ञान नहीं रहता। इसका ज्ञान रहता है इस दिशा के साधकों को, जो इसे जानने की जिज्ञासा रखते हैं तथा उस

*बल्कि केवल "चेतना" कहा जाना चाहिए अन्यथा उसका क्षेत्र सीमित हो जाता है।

पथ पर प्रयास करते रहते हैं। "चेतना" में परिवर्तन लाने में यह दूसरा कारक, "विशेष परिस्थितियाँ" अत्यन्त प्रबल होता है।

जल की तीन अवस्थाओं के समान चेतना की भी तीन अवस्थाएँ होती हैं। १. भूत २. वर्तमान ३. भविष्य। इतना ही नहीं, इन अवस्थाओं के गुणों का जल (अथवा पदार्थ) की तीनों अवस्थाओं १, ठोस २. द्रव ३. बाष्प के गुणों से पर्याप्त समानता भी है। चेतना की भूत अवस्था पदार्थ की ठोस अवस्था के समान है। दोनों पर उनके प्रभावित करने वाले कारकों का न्यूनतम प्रभाव पड़ता है। इससे अधिक परिवर्तनशील अवस्था चेतना की "वर्तमान" तथा पदार्थ की "द्रव" अवस्था है। जिस प्रकार ताप, दाब परिवर्तनों का द्रव पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, ठीक उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति परिस्थितियों में परिवर्तन कर अपने वर्तमान को परिवर्तित कर सकता है। इन्हीं परिस्थितियों में तनिक सा परिवर्तन उसके भविष्य को तो सर्वाधिक प्रभावित करता है, तभी तो मनुष्य, "भविष्य-निर्माता" कहा जाता है। इस अवस्था की समता पदार्थ की बाष्प अवस्था से है क्योंकि उस तंत्र के कारकों (ताप दाब) में तनिक सा अन्तर, बाष्पीय अवस्था में पर्याप्त प्रभाव उत्पन्न करता है। पदार्थ की बाष्प-अवस्था कारकों द्वारा, सबसे अधिक प्रभावित की जा सकती है।

सामान्यतः मानव "सामान्य परिस्थितियों" द्वारा ही प्रभावित किया जाता रहता है। उसे प्रभावित करने वाली "विशेष परिस्थितियाँ" स्थिर रहती हैं। अतः जल तंत्र के समान ही उसकी "चेतना" में परिवर्तन एक सरल रेखा की दिशा में होता है। जो समय व्यतीत हो गया, उसमें उसकी जो चेतना थी, वह "भूत" हुआ। "वर्तमान" में प्रत्येक की चेतना रहती ही हैं। समय व्यतीत होने पर वही चेतना "भविष्य" में पहुँच जाती है। परन्तु इसकी विपरीत दिशा में जाना (उदाहरणार्थ, वर्तमान से भूत में) उतना सरल नहीं। वह सामान्यतः स्मरण द्वारा ही किया जा सकता है।

सामान्य प्राणी को अपना भविष्य तथा भूत जानने की उत्कंठ इच्छा रहती है। कारण यह कि वह वर्तमान में ही स्थित रहता है तथा इस कारण भविष्य तथा भूत उसे दुष्प्राय होते हैं। जो वस्तुएं जितनी दुष्प्राय होती हैं, उसको पाने की इच्छा उतनी ही तीव्रतर होती जाती है। अतः आज से सहस्रों वर्ष पूर्व, भारत के जिज्ञासुओं ने, साधकों ने, इस दिशा में प्रयत्न किए कि किस प्रकार "वर्तमान" में स्थित "चेतना" युगपत "भूत" तथा "भविष्य" से सह-अस्तित्व रखने में सफल हो? इतिहास में ऐसे अनेकों व्यक्तियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो इस प्रयत्न में सफल हुए भी। अवश्य ही उन्होंने ऐसा, "विशेष परिस्थितियों" में ("सामान्य परिस्थितियों" के साथ) परिवर्तन द्वारा किया होगा क्योंकि जल तंत्र से समता के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि कोई व्यक्ति उसे प्रभावित करने वाले दोनों कारकों—?' सामान्य परिस्थितियां तथा २ परिस्थितियाँ में युगपत समायोजित परिवर्तन करेगा (जल-तंत्र में ताप दाब के समायोजित परिवर्तन के सदृश्य), तो वह ऐसे बिन्दु पर (जल-तंत्र के त्रिक बिन्दु के समान) पहुँच जायेगा जहाँ भूत, भविष्य, वर्तमान सब एक साथ सह अस्तित्व रखते हैं। यह बिन्दु ही "चेतना" की वह स्थिति है, जहाँ भूत, भविष्य तथा वर्तमान सब सहअस्तित्व रखते हैं। इस स्थिति को ही पौराणिक साहित्य में "त्रिकालज्ञता" कहा गया है। इस स्थिति पर व्यक्ति की चेतना "विश्व-चेतना" बल्कि "अखिल ब्रह्माण्डीय चेतना" से सर्वसम हो जाती है। अतः इस स्थिति में उसका "त्रिकालज्ञ तथा सर्वज्ञ" हो जाना असम्भव नहीं प्रतीत होती। हाँ किसी अवैज्ञानिक को इसमें उसी प्रकार का आश्चर्य अवश्य होगा, जैसा कि उसके ज्ञान के अनुसार १००°C. ताप पर बनने वाली "जल-वाष्प" का, ०°C. तथा इससे निम्न तापों पर प्राप्त होने वाले "हिम" के साथ सह अस्तित्व रखना सुनकर।

गन्ने का सफल अंकुरण

डा० महेश नरायण मिश्र तथा सूरजभान

गन्ना क्षेत्रफल तथा पैदावार के हिसाब से भारत की एक प्रमुख फसल है। लगभग २२·१४ लाख हेक्टार में इसकी खेती की जाती है जिससे लगभग १० करोड़ मैट्रिक टन गन्ना पैदा होता है। हमारे देश में गन्ने की औसत पैदावार ४५·८ मैट्रिक टन प्रति हेक्टार है।

गन्ने की फ़सल गन्ने के टुकड़े रोपकर लगाई जाती है। सामान्य रूप से एक हेक्टार की रोपाई में ३००० से ४००० या भार के हिसाब से ४०-५० क्विटल गन्ने के टुकड़े लग जाते हैं। यह गन्ने की प्रति हेक्टार पैदावार का १०-१२ प्रतिशत है। अधिक बीज लगाने का कारण यह है कि हमारे यहाँ की स्थिति में रोपे गये टुकड़ों में से २०-२५ प्रतिशत ही अंकुरित हो पाते हैं। फलतः अंकुरण क्षमता में वृद्धि करके बीज की मात्रा में पर्याप्त कमी की जा सकती है। विभिन्न अनुसंधान केन्द्रों पर प्राप्त परिणामों के आधार पर जमाव बढ़ाने के सम्बन्ध में कुछ सुझाव नीचे दिये जा रहे हैं।

उत्तम प्रकार के बीज का चुनाव

उत्तम बीज का अर्थ है कि—

(अ) बीज स्वस्थ हो - मूलतः पौधों का प्रारम्भिक विकास इनके पितृगत गुणों और बीज में उपस्थित खाद्य रूपी सम्पत्ति पर आधारित होता है, क्योंकि जब तक जड़ें विकसित नहीं होतीं, नवीन अंकुर खाद्य पदार्थों को जमीन से प्राप्त नहीं कर सकते, और वे अपनी वृद्धि के लिये बीज में स्थित खाद्य पर ही आधारित होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि बीज ऐसे खेत से लिया जाय जिसमें खाद्य और पानी की कमी न रही हो, फसल पूर्णतया स्वस्थ हो, किसी भी प्रकार की बीमारी, कीड़े व सूखे से अक्रान्त न हों। अस्वस्थ बीज प्रयोग करने से पहिले तो जमाव होता ही नहीं है और होता भी है तो बहुत देर से, और ऐसे टुकड़ों से उगे कल्लों के बाद में मरने की आशंका रहती है। खास बात तो यह है कि कमजोर बीज के प्रयोग से कम उपज की पूर्ति बाद में खाद पानी देने से भी पूर्णतया पूरी नहीं की जा सकती। अच्छे स्वस्थ बीज के प्रयोग से जिसकी खाद पानी से अच्छी तरह देख-देख की गयी हो, साधारण बीज की अपेक्षा प्रतिशत जमाव तथा पैदावार १०-१५ प्रतिशत अधिक मिलते हैं।

(ब) बीज उन्नत किस्म का हो—गन्ने में जातीय गुणों का विशेष महत्व होता है। उन्नत किस्मों में खाद पानी के अधिकाधिक उपयोग की क्षमता होती है जिसके फलस्वरूप प्रतिशत जमाव तथा पैदावार दोनों ही अच्छे मिलते हैं। उन्नत किस्में काफी समय के अनुसंधान एवं विभिन्न क्षेत्रों की मिट्टी एवं जलवायु में परीक्षण करके निकाली जाती है। इनमें सभी आवश्यक गुणों, जैसे कि गन्ने में चीनी या गुड़ की मात्रा, बीमारी या कीड़े से बची रहने की क्षमता आदि गुणों का समावेश रहता है। अतः हमेशा उन्नत किस्में ही बोनी चाहिये तथा उन्नत किस्मों में भी वही किस्म बोनी चाहिये जो राज्य सरकार की ओर से उस प्रदेश के लिये स्वीकृत हों।

निम्नलिखित तालिका में उत्तर प्रदेश की चीनी मिल तथा गुड़ क्षेत्रों के लिये कुछ मुख्य-मुख्य स्वीकृत किस्में दी जा रही हैं।

क्षेत्र	जल्दी तैयार होने वाली किस्में	मध्यकाल तथा देर से तैयार होने वाली किस्में
चीनी-मिल क्षेत्र	को० शा० ५८०, को० ८५६	को० ३५६, को० ५२७, को० १००७, वि० उ० १७ वि० उ० ३२
गुड़ क्षेत्र	को० ३२१, को० शा० ५१०, को० ५२७ को० ३१३	को० १००७, को० शा० २४५, को० ११५८ वि० उ० १७

(स) **बीज निरोग हों :**—बीज के लिये गन्ने के झुण्डों का चुनाव करना, काना जैसे रोग से ग्रसित फसलों में खास तौर से, आवश्यक है क्योंकि ऐसे रोगों से ग्रसित झुण्डों में ऊपर से स्वस्थ दिखाई देने वाले गन्ने भी प्राय: रोग रहित नहीं होते और उनको बीज के लिये प्रयोग करना हानिकर हो सकता है। जब बोने के लिए टुकड़े काटे जाँय तो अस्वस्थ आँख वाले भाग को काट कर अलग कर देना चाहिये, साथ ही लाल सिरे वाले टुकड़ों को भी काट देना चाहिये क्योंकि यह सम्भव है कि यह लालपन किसी रोग के ही कारण हो।

(द) **बीज के लिये मोटे गन्ने तथा अंगोलों का चुनाव :**—अनुसंधान के फलस्वरूप ज्ञात हुआ है कि पतले कठोर गन्नों के स्थान पर मोटे तथा ताजे टुकड़े बोने से अंकुरण १५-२० प्रतिशत अधिक होता है। प्रयोगों द्वारा यह भी सिद्ध हुआ है कि गन्ने का ऊपरी भाग, जिसमें मिठास शेष भाग से कम होती है, बीज के लिये सर्वोत्तम होता है। इसके प्रयोग से अंकुरण शीघ्र व अधिक होता है। शाहजहाँपुर में किये गये एक प्रयोग में अंगोलों के (गन्ने का ऊपरी भाग) बोने से औसतन जमाव निचले भाग की अपेक्षा लगभग १८-२० प्रतिशत अधिक हुआ। अत: स्पष्ट है कि इस प्रकार बुवाई करने से बीज की काफी मात्रा की बचत होती है। ४५-५० क्विंटल प्रति हेक्टर के स्थान पर २५-३० क्विंटल ही लगता है। इसके अतिरिक्त ऊपरी भाग बीज में प्रयोग होने से शेष नीचे के भाग को पेरने से चीनी अथवा गुड़ का परता अधिक बैठता है।

(य) **बुवाई के समय खेत अच्छी भौतिक दशा में हो और नमी के अनुसार बुवाई की जाय :**—चूंकि अंकुरण एक जैविक क्रिया है अत: इसके लिये एक खास मात्रा में नमी, ताप तथा आक्सीजन की आवश्यकता पड़ती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति, उपयुक्त समय पर बुवाई करके, खेत की अच्छी तरह तैयारी करके, तथा नमी के अनुसार बुवाई की गहराई नियंत्रित करके की जा सकती है। प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ है कि बुवाई के समय वातावरण का साप्ताहिक ताप ७०° फा० के आस पास रहे तो अंकुरण बहुत अच्छा होता है। ताप का ५०° फारेनहाइट से नीचे गिर जाना या ८०° फारेनहाइट से ऊँचा बढ़ जाना अंकुरण के लिये हानिकर है।

खेत की नमी का भी अंकुरण पर विशेष प्रभाव पड़ता है। ऐसी अवस्था में जब खेतों में नमी अधिक हो और बुवाई गहरी की गयी हो तो आँखों के अंकुरण के पूर्व ही सड़ने का डर रहता है। और यदि अंकुरण होता है भी तो नये कल्लों को जमीन के अन्दर से बाहर आने में समय अधिक लगता है। इसके विपरीत अगर खेत में नमी कम है और बुवाई उथली की गयी हो तो उस अवस्था में आँखों के अंकुरण के पूर्व ही सूखने का डर रहता है। अत: आवश्यक है कि उत्तम जमाव प्राप्त करने के लिए बुवाई की गहराई खेत में नमी की स्थिति तथा मौसम के आधार पर ही नियंत्रित की जाय। अधिक नमी वाली भारी जमीन तथा जाड़ों की बुवाई में कम गहराई रखी जाती है। इसके विपरीत हल्की जमीन, फरवरी मार्च की बुवाई तथा खेत में नमी की मात्रा कम होने पर गहराई अधिक रखी जाती है। प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ है कि अगर खेत में नमी अधिक है तो बुवाई ५-६ सेमी० गहरी तथा नमी कम हो तो १०-१२ सेमी० गहरी करनी चाहिये। बुवाई की गहराई बोये जाने वाले टुकड़ों की स्थिति पर भी निर्भर करती है, अगर खेत में नमी ठीक हो तो गन्ने के ऊपरी भाग वाले टुकड़े प्रयोग करते समय गहराई ४-५ सेमी० तक ही रखी जा सकती है। पर नीचे के हिस्से से प्राप्त हुये टुकड़े तो ८-१० सेमी० गहरे बोने चाहिये। बुवाई के बाद हाथ से या पाटा लगाकर उन्हें मिट्टी से ढक देना चाहिये। ऐसी स्थिति में जब खेत में नमी कम हो तो बोने से पहले या बाद में एक हल्की सी सिंचाई कर देनी आवश्यक है।

बोने से पूर्व टुकड़ों का कृत्रिम उपचार :—ऐसी स्थिति में जब कि गन्ने की बुवाई पिछड़ जाय या प्राप्त हुये बीज में किसी प्रकार के कीड़े या बीमारी की आशंका हो तो टुकड़ों को बोने से पूर्व उपचारित कर लेना आवश्यक है। साधारण अवस्था में भी यह उपचार कर देने से अंकुरण तथा उपज में आशातीत वृद्धि होती है। इन उपचारों के दो मुख्य उद्देश्य हैं :—

(अ) बीज में उन आवश्यक तत्वों जैसे कि पानी ग्लूकोज, पोषक तत्व या हरमोन्स की उपस्थित कर देना जो अंकुरण में सहायक हो सकें।

(ब) टुकड़ों पर लगे जीवाणुओं (बीमारी के) तथा कीड़ों को नष्ट कर देना तथा टुकड़ों की बाहरी सतह को जहरीला बना देना जिससे कि यह रोग या खेत में से लगने वाले रोग आगे न फैल सकें।

प्रयोगों के आधार पर अंकुरण बढ़ाने के सम्बन्ध में कुछ विशिष्टएवं प्रभावशाली उपचार नीचे दिये जा रहे हैं।

टुकड़ों को ठंडे पानी, गरम पानी अथवा चूने के पानी में डुबाना :—ईख अनुसन्धान केन्द्र शाहजहाँपुर में किये गये प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि टुकड़ों को बोने से पहले लगभग २४ घंटे ठंडे या ताजे पानी में डुबाने से अंकुरण अच्छा होता है। उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में तो आमतौर पर किसान इस उपचार को करते हैं। इस उपचार को करने से लाभ यह होता है, कि टुकड़े काफी पानी सोख लेते हैं तथा कुछ आँखों भी अंकुरित हो आती हैं। अतः अगर खेत में नमी कुछ कम भी है तो जमाव पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

टुकड़ों को गरम पानी में भी उपचारित किया जाता है। इसके लिये टुकड़ों को पानी में ४५° सेंटीग्रेड ताप पर ४० मिनट रखा जाता है फिर निकाल कर बो दिया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि इस ताप पर अधिकतर कीड़े या बीमारी के जीवाणु मर जाते हैं। इसके अतिरिक्त सूक्रोज का भी कुछ अंश ग्लूकोज में बदल जाता है, जिसकी कि अंकुरण के समय नये कल्लों को आवश्यकता होती है। ऐसा ही उद्देश्य टुकड़ों को चूने के पानी में डुबाने का है।

रासायनिक संयोजक जैसे कि एगलाल ऐरीटन के घोल में उपचार

इन संयोजकों के उपचार से गन्ने के प्रतिशत अंकुरण तथा पैदावार में आशातीत वृद्धि होती है। ये दोनों संयोजक प्रयोग, विधि तथा रंग-रूप में समान हैं। इनसे उपचारित करने के लिये एक निश्चित मात्रा में निश्चित शक्ति का घोल बनाया जाता है फिर इस घोल में टुकड़ों को डुबोकर निकाल लिया जाता है तथा इस क्रिया के तुरन्त बाद ही टुकड़ों को दिया जाता है। ७२० ग्राम एगलाल या ३२० ग्राम ऐरीटन के १२० लिटर घोल में ४० हजार टुकड़े डुबोये जा सकते हैं जो एक हेक्टार के लिये पर्याप्त हैं। उपचार करते समय हाथों से रबड़ के दस्ताने पहनने चाहिये क्योंकि ये पदार्थ बहुत जहरीले होते हैं। एगलाल या ऐरीटन के उपयोग से न उपचारित किये गये गन्ने की तुलना में ८-१० प्रतिशत अधिक अंकुरण होता है!

कीटाणुनाशक दवाओं से उपचार

अंकुरण के समय दीमक गन्ने की सबसे बड़ी दुश्मन है जो उन्हें अन्दर से खाकर बरबाद कर देती है और इस प्रकार टुकड़ों से अंकुरण नहीं हो पाता। दीमक से बचाव तथा अच्छे अंकुरण के लिये निम्न लिखित उपचार करना चाहिए :—

(अ) २ लिटर टैलोड्रिन (१५ प्रतिशत शक्ति वाली) को १२० लिटर पानी में घोलकर टुकड़ों को इस घोल में बोने से पूर्व डुबाना चाहिये। अथवा

(ब) ७ लीटर गामा बी०एच०सी० (२० प्रतिशत शक्ति वाली) का घोल बनाकर टुकड़ों पर छिड़काव करें। अथवा

(स) क्लोरोडिन धूल (५ प्रतिशत शक्ति वाली) २० किलोग्राम प्रति हेक्टर के हिसाब से बोने के समय खेत में मिलायें।

अगर किसान भाई बुवाई के समय उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखें एवं अपनायें तो कोई सन्देह नहीं कि गन्ने में अंकुरण अच्छा होगा। इस प्रकार गन्ने की बुवाई में उनके बीज की बचत भी होगी तथा पैदावार में वृद्धि भी। ●●

स्वावलम्बन यंत्रावलम्बन से

श्यामसरन अग्रवाल 'विक्रम'

सबसे पहले सिलाई मशीन बनी, टाइपराइटर बना, करघा बना, आटौरिक्शा बना तथा ऐसे अन्य अनेक यंत्र बने, तो अपना-अपना इतिहास लिये हुए बने। सब कुछ यों ही नहीं बन गया, जैसे हम बहुत कुछ यों ही मान लेते हैं। हमारा परिश्रम बचानेवाला, अनेक का काम एक ही कर देनेवाला, जब भी कोई नया यंत्र हमारे सामने आया, तब उसके आविष्कर्ता के लिए तो प्राणसंकट का कारण बना ही; स्वयं भी पूर्वगत स्वरूपों में अनेक बार तोड़ा-फोड़ा जाता रहा, नष्ट-भ्रष्ट होता रहा। उसके आविष्कारक को प्राण संकट में डालनेवाले तथा उसके यंत्र को तोड़ने-फोड़ने वाले निश्चत ही वे लोग होते रहे हैं, जिन्हें उस यंत्र के प्रचार-प्रसार द्वारा अपनी आजीविकाएँ खोने का डर रहता था।

यह एक स्वाभवगत प्रवृत्ति है कि हस्तकला-कौशल में निपुण, कोई भी कारीगर अन्य व्यक्ति उसका अनुसरण करे, यह नहीं सहन कर सकता। इसी मनोग्रन्थि के कारण हमारे देश के अनेक चमत्कारिक हस्तकला-कौशल लुप्त हो गये। यदि किंवदन्तियों को मनोरंजनार्थं सत्य मान लें तो आज वस्त्रनिर्माण के वे कारीगर कहाँ हैं, जिनकी बनायी मलमल का पूरा थान अँगूठी के छिद्र से निकल जाता था? कदाचित् उसी मलमल के थान पर थान शरीर पर लपेट कर औरंगजेब की शहजादी दर्बार में आयी होगी और कथित नग्नता के कारण उसे डाँट सुननी पड़ी होगी। संसार का आश्चर्य — ताजमहल खड़ा करने वाले, वास्तुकला के उन जादूगरों के आज वंशज भी ढूँढे नहीं मिलते, जिनके लिए कहा गया है कि हाथ काट कर उन्हें इसलिये अपंग कर दिया गया था कि वे दूसरा ताजमहल न खड़ा कर दें। इसी प्रकार कलम से चित्रवत् सुलेख लिपि लिखनेवाले भी अपनी कला के स्वयं ही एकमात्र धनी रहे होंगे। अतः पहला यांत्रिक करघा तथा पहली सिलाई-मशीन तोड़नेवाले व्यक्ति वस्त्रनिर्माता रहे होंगे, पहला टाइपराइटर तोड़नेवाले व्यक्ति सुलेखन-निपुण, कलम के कारीगर रहे होंगे और रिक्शा, आटोरिक्शा तोड़नेवाले व्यक्ति पालकी-वाहक रहे होंगे।

सोचना यह है कि किसी भी नये यंत्र का बनना, क्या सचमुच ही आजीविका के लिए संकट का आमन्त्रण समझना चाहिये? यदि ऐसा होता तो बढ़ती हुयी जनसंख्या के लिए आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं एक अपूर्त समस्या बन जाती। न तो ढाका-मलमल के कारीगरों से वस्त्रपूर्ति संभव होती, न ताजमहल के कारीगर आवास की समस्या हल कर पाते और न कलम के कारीगर एक बार में सुलेख प्रतिलिपियों का ढेर बना पाते। आज एक सूत मिल के छोटे से कोने में खड़ा कारीगर पूरे पंक्तिबद्ध स्पिन्डल्स की देखभाल करता हुआ, सुबह से शाम तक जितना सूत तैयार करके देता है (और अपने परिवार का पोषण करता है) उतना सूत एक चर्खे को हाथ से चलानेवाला व्यक्ति महीने भर में भी नहीं दे पायेगा। इसी प्रकार बिजली से चलती हुये एक सिलाई मशीन ४-६ घण्टों में जितने कपड़ों का ढेर लगा देती है, उतना करते-करते एक हाथ-सिलाई वाले की तो उम्र ही बीत जायगी।

आज हम जितनी सरलता से काउन्टर पर पैसे फेंक कर रेडीमेड शर्ट, बुशर्ट या बनियान ले आते हैं, वह सब इतना सरल और सहज न होता, यदि थान को काटने से लेकर तैयार माल डब्बे में बन्द करने तक का काम प्रति घंटे, सैकड़ों की संख्या में एक-एक मशीन

न कर देती। अवश्य, यह तर्क इस पक्ष की तो पुष्टि करता ही है कि यंत्रीकरण द्वारा ही उपभोक्ताओं की आवश्यकता-पूर्ति संभव है; तथापि दूसरा पक्ष भी विचारणीय है कि यंत्रीकरण का उपभोग स्वावलम्बन के हितार्थ कहाँ तक किया जा सकता है।

यह तो निश्चित है कि यंत्र-संचालन के लिए उसका प्रशिक्षण आवश्यक है। ईंटा-चूना ढोनेवाला मजदूर जो कुछ पाता है, उससे चार गुना अधिक वह पाता है, जो दीवार खड़ी करता है और उससे भी अधिक वह पाता है, जो क्रेन चलाकर भारी लोहे की शहतीरों को यथास्थान रखता है। उसी कार्य में यंत्रों की ही सहायता से बरमे चला कर उह शहतीरों को रिबिट करने वाले का तथा सर्वोच्च रूप में उसके इंजीनियर का सहयोग रहता है। यदि बढ़ती हुयी आवश्यकताओं के बावजूद भी सभी लोग ईंट-चूना ढोने की योग्यता तक सीमित रह जायें तो भवन कैसे खड़े होंगे? आनेवाला समय और राष्ट्र के नव-निर्माण का वर्तमान समय भी सैकड़ों, हजारों नहीं, लाखों की संख्या में कुशल यंत्र संचालकों की माँग करता है। उसके लिये हम स्वयं और हमारा जन-जन कहाँ तक तैयारी कर पा रहा है, यह सोचने-समझने की बात है।

कलम का कलाकार, सुलेखक व्यक्ति १००-२०० में एकाध ही हो सकता है। कदाचित् वह अपनी कला से अपना पेट भर लेगा; किन्तु अन्य लेखा-लेखकों को किसका सहारा लेना होगा? सोचिए, यदि टाइपराइटर न होता तो संसार तो अलग, हमारे ही देश के लाखों टाइपिस्टों को रोटी देने कौन उनके घर जाता? यदि साइकिल के आविष्कार के पश्चात् रिक्शा और आटो-रिक्शा बनाने की न सूझी होती तो लाखों रिक्शा चालकों का भरण-पोषण कौन करता?

आज तो जैटयुग से भी आगे राकेट युग का दौर-दौरा है। धरती पर रेंगने वाली बैलगाड़ी एक सिरे पर है, तो चाँद और मंगल तक की उड़ान भरने वाला अन्तरिक्ष यान दूसरे सिरे पर है। अणुयंत्रों के संचालन से लिए लाखों की संख्या में कुशलतम कम्प्यूटर चालकों की आवश्यकता पड़ेगी। उनके कार्य के अनुरूप उन्हें वेतन भी आज से सौ-पचास गुना अधिक मिलेगा। तो, क्या हमें कब्र खोदने वाले मजदूर की भाँति दो रुपये रोज पर ही सन्तुष्ट हो बैठना है, अथवा २५-५० रुपये रोज का वेतनभोगी कम्प्यूटर-संचालन बनने का लक्ष्य सामने रख कर आज ही से उसके लिए तैयार होना है?

यंत्र संचालन का प्रशिक्षण प्राप्त करने का मार्ग प्रत्येक उस व्यक्ति के लिए खुला है, जो यंत्रों को शत्रु नहीं, मित्र मान कर जीवन की होड़ में अग्रिम पंक्ति पकड़े रहना चाहता है।

●●

परमाणु विखंडक का निधन

१८ सितम्बर १९६७ को कैम्ब्रिज (इंग्लैंड) में ७० वर्ष की आयु में सर जान काकराफ्ट की मृत्यु हो गई।

जान काकराफ्ट उन भौतिकज्ञों में हैं जिन्होंने सन् १९३२ ई० में सर्वप्रथम परमाणु का विखण्डन रदरफोर्ड की प्रयोगशाला में वाल्टन के सहयोग से किया। इस महान खोज के लिये उन्हें १९५१ ई० में भौतिकी पर नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया था।

पाकशास्त्र

● डा० शिवगोपाल मिश्र

रसोई घर के भीतर काम आने वाली समस्त वस्तुओं के रासायनिक वर्णन के पश्चात् हम 'पाकशास्त्र' का वर्णन करेंगे।

पाकशास्त्र वह कला है जिसके द्वारा कच्चे पदार्थों से खाने योग्य भोजन तैयार किया जाता है। वस्तुतः हमारे देश में पाकशास्त्र या पाक विज्ञान का बड़ा महत्व रहा है। प्रारम्भ से ही मनुष्य ने चीजों को पकाकर खाने का अभ्यास डाला। किन्तु पहली बार उसे पकाने की सूझ कैसे आई, कहना कठिन है। यह भली-भाँति ज्ञात है कि आदि-मानव का आहार कच्चे फल तथा कच्ची चीजें थीं। उसने आग जलानी सीखी तो सम्भवतः उसने दानों को भूना और चखा होगा। शायद कच्चे मांस को भी उसने भूना। तब उसके पास बर्तन नहीं थे अतः व्यवस्थित ढंग से रसोई घर एवं पाकशास्त्र का विकास काफी बाद की घटना होगी। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पाकशास्त्र की प्रगति के साथ ही मनुष्य उन्नति करने लगा और वह संस्कृत हुआ। शायद अच्छे स्वास्थ्य के लिये पाकशास्त्र का उत्तम ज्ञान ही उत्तरदायी रहा है।

इस युग में तो पाकशास्त्र पूर्ण विज्ञान का रूप धारण कर चुका है। साथ-साथ यह उत्तम कला भी है। अब उच्च कोटि के रसोइये या गृहिणी के लिये अनेक बातों का जानना आवश्यक होता है क्योंकि नाना प्रकार के पकवान या व्यंजनों से जहाँ रुचि वैशिष्ट्य का पता लगता है वहीं उन्हें तैयार करने के लिये विविध प्रकार की क्रियाओं, भूनना, तलना, उबालना आदि से परिचित होने तथा विविध प्रकार के पात्रों के गुण दोषों से भिज्ञ होने की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि स्कूलों में 'पाक विज्ञान' एक विषय के रूप में पढ़ाया-सिखाया जाने लगा है। वैसे सभी घरों में लड़कियों को उत्तम भोजन तैयार करने का अभ्यास कराया जाता है। किन्तु लड़कियाँ ही नहीं, होटलों तथा रेस्ट्रां के लिये पटु रसोइयों की आवश्यकता पड़ती है अतः पुरुष भी समान रूप से पाकशास्त्र में दक्षता प्राप्त करते देखे जाते हैं। प्राचीन काल में बड़े-बड़े भोजों के लिये विविध व्यंजनों को बनाने का कार्य पुरुषों को ही सौंपा जाता था जो **रसोइये, मुआरा** या **पाचक** कहलाते थे। आज तक वह परम्परा कुछ विशिष्ट वर्ग के लोगों में चली आ रही है। होटलों के बैरे (bearer) भी पाकशास्त्र में निपुण रहते हैं। अब तो बड़े-बड़े शहरों में उच्चकोटि के होटलों को चलाने के लिये प्रशिक्षित बैरों एवं रसोइयों की पूर्ति के उद्देश्य से तत्सम्बन्धी प्रशिक्षणालय भी खुले हैं।

इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि भोजन बनाने की कला को न तो उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा सकता है और न इससे बचकर ही काम चलाया जा सकता है।

यद्यपि सभी वस्तुयें पकाकर नहीं खाई जातीं किन्तु अधिकांश वस्तुओं को पकाने के बाद ही खाया जाता है। इससे कई प्रकार के लाभ हैं।

१—वस्तुओं में चिपके हुये या पाये जाने वाले कीटाणु एवं जर्म नष्ट हो जाते हैं।

(२) भोजन स्वादिष्ट हो जाता है।

(३) कभी-कभी भोजन सुगन्धमय हो जाता है।

(४) पचनीयता बढ़ जाती है।

(५) ऐसी अनेक वस्तुयें भी खाई जा सकती हैं जो सामान्यत: काम नहीं आतीं।

एक ओर जहाँ ताजी वस्तुओं—विशेषत: फलों एवं तरकारियों के प्रयोग किये जाने पर बल दिया जाता है वहीं यह देखा गया है कि कभी-कभी उनमें तमाम हानिकारक जीवाणु, कीट तथा जर्म लगे रहते हैं। अत: तरकारियों एवं फलों को जल से धोकर तथा उबाल कर खाना चाहिए। उबालने से (ऊष्मा द्वारा) प्राय: सभी प्रकार के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। आपने सुना होगा कि पेट की बीमारी (दस्त, आँव, पेचिश) वाले व्यक्तियों को डाक्टर पत्ते वाली सब्जियाँ न खाने की राय देते हैं। क्योंकि उनमें वे जीवाणु रहते हैं जो बीमारी को बढ़ाते हैं और सामान्यत: गरम करने पर भी जीवित रह जाते हैं। तरकारियाँ प्राय: गन्दे पनालों के जल से सींची जाती हैं फलत: सावधानी न बरतने पर वे लाभ के बजाय विभिन्न रोगों की वाहिका बन जाती हैं। टाइफाइड, टी० बी० तथा पेचिश के जर्म तरकारियों द्वारा ही मनुष्यों के भीतर पहुँचते हैं।

कच्चे मांस में भी तमाम परोपजीवी कीट रहते हैं तो आमाशय में पहुँच कर रोग फैलाते हैं।

फलत: चाहे तरकारियाँ हों या मांस—इन सबका पकाना आवश्यक है।

कच्चा मांस न तो देखने में और न सूँघने में ही रुचिकर लगता है किन्तु जब वही अच्छी प्रकार से पकाकर परोसा जाता है तो लोगों के मुँह से लार टपकने लगती है। पकी हुई वस्तुओं में सुगन्ध दो प्रकार से आती है। एक तो ऊपर से डाले गये मसालों से तथा दूसरे उबलने एवं पकने की क्रिया के अन्तर्गत भोज्य पदार्थों से निकली सुगन्धियों से। इन सुगन्धियों से पाचकतन्त्र से पाचक रसों का उत्सर्जन होता है।

आर्द्रता एवं ऊष्णन (ऊष्मा) के कारण पके भोजन की पचनीयता बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ, स्टार्चयुक्त आलू या सेम को उबलते पानी में रखने से स्टार्च के कण टूट कर अधिक पाचक हो जाते हैं और अधिक गरम करने पर स्टार्च से विलेय पदार्थ बनता है जिसे डेक्सट्रिन कहते हैं।

पकाने या पाकशास्त्र के द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुयें नाना प्रकार के पकवानों में बदल करके खाने के काम में लाई जा सकती हैं। मांस को ही लें। उसके सूखे पकवान बनाकर कई दिनों तक सुरक्षित रखे जा सकते हैं। यही नहीं, मक्का जैसे सामान्य अन्न से भी विविध व्यंजन बनाये जा सकते हैं।

किन्तु एक ओर जहाँ भोजन को पकाना आवश्यक है वहीं लोगों को जली रोटियाँ, जली दाल या अधिक भुना हुआ मांस प्रिय नहीं लगता। ऐसी गृहिणी या ऐसा रसोइया जो भोजन को जला दे, निन्दा का पात्र बनता है। जला देने से भोज्य पदार्थों के खाद्य तत्व नष्ट हो जाते हैं—विशेषत: विटामिन और भोजन अपाच्य एवं स्वादहीन बन जाता है।

किन्तु कुछ चीजें ऐसी भी हैं जिन्हें न भी पकाया जाय तो भी काम चल जाता है अथवा कभी-कभी वे उसी रूप में अधिक स्वास्थ्यकर होती हैं। दूध तथा फल ऐसी ही चीजें हैं।

तो आइये पकाने से विभिन्न पदार्थों पर जो रासायनिक प्रभाव पड़ता है उसका अध्ययन करें।

तरकारियाँ

तरकारियों को ही लें। कुछ तरकारियाँ कच्ची और कुछ पकाकर खाई जाती हैं। किन्तु आजकल दो मत हैं। कुछ लोग सभी तरकारियों को पकाकर खाना चाहते हैं तो कुछ लोग इस पर बल देते हैं कि अधिकाधिक तरकारियों को कच्चा ही खाया जाय। गाजर, टमाटर, मटर, मूली, सलाद, आदि कच्ची ही खाई जाती हैं जबकि भिंडी, लौकी, पालक, आलू, परवर, गोभी आदि पकाकर खाई जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कच्ची तरकारियाँ अधिक पोषक हैं किन्तु ध्यान रहे कि उनमें गर्द एवं कीटाणु न रहें। पकाई हुई तरकारियों के लिये यह आवश्यक नियम है कि वे अधिक गरम न की जायँ, उबाली भर जायँ।

इतना जानते हुये भी सभ्य से सभ्य समाज में उबली तरकारियों के परोसे जाने का रिवाज क्यों है? इसलिए कि पकी हुई सब्जियाँ अधिक मुलायम, सरलता से पचनीय एवं सुस्वादु होती हैं।

तरकारियों में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, सेल्यूलोस, खनिज, कुछ वसा तथा विटामिन पाये जाते हैं। ये ही मुख्य घटक हैं जो अन्नों में भी पाये जाते हैं अतः हमें देखना है कि पकाने से इनमें से प्रत्येक घटक पर क्या प्रभाव पड़ता है उनमें क्या परिवर्तन आता है?

तरकारियों में पाया जाने वाला कार्बोहाइड्रेट घटक मुख्यतः स्टार्च $(C_6H_{10}O_5)$ x तथा ग्लूकोस या डेक्सट्रिन $(C_6H_{12}O_6)$ के रूप में पाया जाता है। भिन्न-भिन्न तरकारियों में इन दोनों घटकों के अनुपात में अन्तर होता है किन्तु स्टार्च सदैव अधिक मात्रा में रहता है। अतः जब तरकारियों को उबाला जाता है या पकाया जाता है तो स्टार्च के कण फूलते हैं और फटते हैं। इससे पकी हुई तरकारी में स्टार्च अधिक पचनीय अवस्था में रहता है। अधिक गरम करने पर कुछ ग्लूकोस बनता है जो तरकारी के रसे में आ जाता है। यदि परोसी तरकारी को पूर्णतः खा लिया जाय, अर्थात् रसे को न फेंका जाये तो तरकारी के सम्पूर्ण स्टार्च का उपयोग हो जाता है और विशेष बात यह है कि गरम करने या पकाने से स्टार्च में और किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

किन्तु तरकारी में पाये जाने वाले प्रोटीनों पर ऊष्मा का विलक्षण प्रभाव पड़ता है। इन प्रोटीनों में से कुछ जल विलेय होने के कारण तरकारी पकाते समय डाले गये पानी में घुल कर मिल जाते हैं। साथ ही कुछ प्रोटीन स्कंधित हो जाते हैं—जिससे या तो रसे में या तरकारियों के अन्दर ही वे रहे आते हैं। यही नहीं चूँकि विभिन्न अवयवों को पचनीय बनाने के लिये विभिन्न मात्रा तक गरम करना होता है जिससे प्रोटीनों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थं मक्का, मटर, या गेहूँ के आटे में प्रोटीन के साथ ही प्रोटीन भी रहते हैं अतः इन चीजों को अधिक गरम करने पर स्टार्च विलेय होगा किन्तु प्रोटीन नष्ट होगा। इसीलिये तरकारियों को अधिक समय तक गरम नहीं करना चाहिए। तरकारियों को मृदु जल में ही पकाना चाहिए। कठोर जल में कैल्सियम तथा मैग्नीशियम की अधिक मात्रा होने से ये प्रोटीन के साथ मिलकर अविलेय यौगिक बनाते हैं जो पचनीय नहीं होते।

शायद अब समझ में आ गया होगा कि शोरबे या रसे का इतना महत्व क्यों है?

तरकारियों की सबसे बड़ी विशेषता है उनमें उपलब्ध विटामिनों, खनिजों एवं स्थूल पदार्थ (roughage) की बहुलता। ये सभी स्वास्थ्य के लिये उपयोगी हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि विटामिनों की एकमात्र स्रोत तरकारियाँ हैं और विटामिनों पर गरम करने या पकाने पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है अतः भोजन बनाने की ऐसी विधि पर जोर दिया जाता है जिसमें कम से कम विटामिन नष्ट हों।

ऐसा सिद्ध हो चुका है कि समस्त विटामिनों में से ए विटामिन ऊष्मा द्वारा सबसे कम प्रभावित होता है। यह वसा में विलेय विटामिन है किन्तु अधिकांश तरकारियां जल में पकाई जाती हैं अतः उन्हें पकाते समय इस विटामिन की क्षति बहुत कम होती है। ए विटामिन से युक्त तरकारियों में गाजर, टमाटर तथा गोभी प्रमुख हैं।

विटामिन बी-१ जल विलेय है किन्तु उबलते जल में यह नष्ट नहीं होता अतः यदि रसे को फेंका न जाय तो यह विटामिन नष्ट नहीं होगा। यही कारण है कि जहाँ तक सम्भव हो उतना ही पानी तरकारी पकाते समय डाला जाय जितना कि सोख जाय जिससे कि वृथा ही पानी के साथ विटामिन नष्ट न हो जायें।

विटामिन सी प्रमुख रूप से तरकारियों में पाया जाता है किन्तु इसका विनाश भी सर्वाधिक होता है। अधिक काल तक गरम करने तथा उच्च ताप से इस विटामिन का आक्सीकरण होने लगता है जिससे कि तरकारियाँ पकाने पर यह विटामिन नष्ट हो जाता है।

प्राय: ६५% तक विटामिन इस प्रकार से नष्ट हो सकता है और यदि कहीं सोड़ा या अन्य कोई क्षारीय पदार्थ डालकर तरकारी पकाई जाय तो इस विटामिन की पूरी मात्रा नष्ट हो जाती है। इसके विपरीत अम्ल उत्पादक तरकारियों का विटामिन-सी गरम करने पर भी नष्ट नहीं होता, जैसे कि विटामिन का सूप।

विटामिन-डी तरकारियों में नहीं पाया जाता। यह अंडों, कलेजी एवं दुग्ध में रहता है। अत: तरकारियाँ पकाते समय इस विटामिन के नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

विटामिन-ई तरकारियों तथा अन्नों में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है किन्तु गरम करने पर नष्ट नहीं होता अत: उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता करना व्यर्थ है।

विटामिन-जी जल विलेय है अत: विटामिन-बी की भाँति ही तरकारी पकाते समय इसकी सुरक्षा का ध्यान रखना होगा।

तरकारियों में डंठल, पत्ते, छिलके आदि में सेल्यूलोस होता है जिस पर पकाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, फलत: तरकारियों से अधिक मात्रा में छिलके उतारने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार तरकारियों को पकाते समय मुख्य स्मरणीय बातें निम्नांकित हैं :—

१) उन्हें कम से कम पानी के साथ पकावें।

२) उनमें रसे को वृथा न जाने दें।

३) स्वाद, गंध आदि स्थिर रखने के लिये तरकारियों को कम पकावें। अधिक पकाना हानिकर होगा।

४) विटामिन बी, सी तथा जी अधिक गरम करने से विनष्ट हो जाते हैं।

मांसादि का पकाना

प्रोटीन की पूर्ति के लिये पशुओं से प्राप्त पदार्थों पर रहना पड़ता है अत: ऐसे पदार्थों को पकाते समय विशेष ध्यान रखना चाहिए कि प्रोटीन नष्ट न होने पावे। यदि अंडे को तोड़कर पानी में घोला जाय तो उसका काफी अंश घुल जाता है किन्तु यदि अंडे को पानी में उबालकर तोड़ा जाय तो वह कठोर होने के कारण पानी में नहीं घुलता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रोटीनयुक्त पदार्थों को अधिक गरम करने से प्रोटीन जम जाता है जिसके कारण उसके पचाने में बल पड़ता है। यह बात सभी प्रोटीनयुक्त पदार्थों के पकाने में लागू होती है इसीलिये दूध से बनने वाली चीजों, अंडों आदि को बिना अधिक पकाये खाने से ज्यादा लाभ होता है।

मांस में रेशेदार पदार्थ विविध प्रकार के प्रोटीनों से बना होता है। गरम किये जाने पर ये फूल जाते हैं जिससे अधिक पचनीय हो जाते हैं। यही नहीं अम्ल डालने पर (ऐसीटिक अम्ल, सिरका आदि) भी ये प्रोटीन पचनीय हो जाते हैं। मांस की पेशी में लवण, विटामिन, कई प्रोटीन यथा ग्लोबुलिन, ऐल्बुमिन एवं हीमोग्लोबिन (लाल रंग का) पाये जाते हैं। ये गरम किये जाने पर जम जाते हैं (थक्के का रूप धारण कर लेते हैं) जिससे कम पाच्य बन जाते हैं। इस दृष्टि से मांस को सदैव कम आँच (मध्यम ताप) पर ही पकाना चाहिए। यदि मांस में रेशे अधिक हों तो पहले मांस को सिरके से सिक्त करके तब पकाना चाहिए। तुरन्त काटा गया मांस अपेक्षतया कठोर होता है। कई दिनों का कटा मांस कार्बनिक अम्लों के उत्पादन के कारण मुलायम पड़ जाता है।

किन्तु मांस में प्रोटीन ही तो नहीं रहता। उसमें बसा, विटामिन, खनिज तथा कुछ कार्बोहाइड्रेट भी पाये जाते हैं। किन्तु पकाते समय इन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि शोरबे में ये सब मिल जाते हैं और मांस का शोरवा कभी भी फेंका नहीं जाता। मांस को पकाते समय उसकी समस्त वसा पिघल कर निकल जाती है और वह सभी सुस्वादु होती है किन्तु अधिक देर तक तथा उच्च ताप पर मांस पकाने

से निम्न वसायें वाष्पशील होने के कारण निकल आती हैं और उच्च गलनांक वाली वसायें बच रहती हैं जिन्हें पचाना कठिन होता है। आलू के चिप्स आदि के लिये बारम्बार एक ही घी या तेल का प्रयोग भले ही बचत-पूर्ण हो किन्तु इससे कम पचनीय पदार्थ तैयार होगा।

मांस को प्राय: दो प्रकार से पकाया जाता है। एक तो भूनना और दूसरा पानी के साथ उबालना। पहले लोगों का अनुमान था कि भूनने से विटामिन, रस तथा प्रोटीन भीतर रहे आवेंगे किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि कम ताप पर जल के साथ मांस पकाना कहीं अच्छी विधि है। इससे खनिज, विटामिन, विलेय प्रोटीन पानी में आ जाते हैं। यदि मांस को खौलते पानी में डुबो दिया जाय और फिर उसे पकाया जाय तो इससे बाहरी सतह की ऐल्बुमिन जम जावेगी जिसे बाद में कम ताप पर गरम करके अच्छा शोरवा तैयार किया जा सकता है।

आजकल रसायन विज्ञान के प्रयोग से मांस को **मुलायम बनाने** की विधि काम में लाई जाती है। पोटैशियम नाइट्रेट, पोटैशियम नाइट्राइट तथा सोडियम क्लोराइड के विलयनों को मुख्य धमनी में से होकर हैम के भीतर प्रविष्ट किया जाता है। इससे रेशे के प्रोटीन (कैलोजेन) टूट जाते हैं जिससे मांस के अधिक ताप पर पकाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अंडों में ऐल्बुमिन रहता है जो १३५° फारेनहाइट ताप पर ही जमने लगता है अत: अंडों को पकाने की सर्वश्रेष्ठ विधि है कि उबलते पानी में ५-१० मिनट तक रहने दें। इससे अधिक देर तक रखने से भीतर का प्रोटीन अत्यधिक कड़ा पड़ जाता है जिसे पचाने में पेट को दुगनी मेहनत करनी पड़ती है।

आजकल भोजन पकाने के लिये 'कुकर" का प्रयोग होने लगा है। वस्तुत: यह उबालने के लिये प्रयुक्त यंत्र है। जब कोई पदार्थ पानी के साथ उबाला जाता है तो जब तक पानी खौलता रहता है तब तक उसका ताप स्थिर रहता है। यह ताप पहाड़ों पर कम और समुद्र तल पर अधिक रहता है। इसका कारण यह है कि उबलने का ताप (क्वथनांक) दाब पर निर्भर है। जितना ही अधिक दाब होगा उतना ही ताप बढ़ेगा। फलतः सामान्य उबलने की क्रिया को यदि बन्द पात्र के भीतर किया जाय तो दाब बढ़ने के कारण ताप १००° से अधिक हो जावेगा जिससे कोई भी चीज जल्दी पक जावेगी।

जब तलना या भूनना होता है तो उबालने से अधिक ताप की आवश्यकता होती है। रसायन की भाषा में जिसे हम पकाना (baking) कहते हैं वही पाकशास्त्र में तलना (frying) है। किन्तु तरकारियाँ बनाते समय तलने की क्रिया सदैव एक न एक वसा या तेल की उपस्थिति में की जाती है अत: तेल से सिक्त भोजन प्राप्त होता है। ऐसा ज्ञात हुआ है कि प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट के ऊपर चिकनाई चढ़ जाने से आमाशय में इनके पाचन में कठिनाई होती है अत: तलने में कम से कम तेल-घी का प्रयोग करना चाहिए और चीजों को जलने नहीं देना चाहिए। जली हुई चीजें सदैव देर से पचती हैं।

पाव रोटी या डबल रोटी

सामान्यत: आटे को सान कर रोटी बनाते समय कोई रासायनिक पदार्थ नहीं डाला जाता किन्तु व्यापारिक स्तर पर पाव रोटियाँ तैयार करते समय कुछ **मृदुकारी पदार्थ** (leavening agents) मिला दिये जाते हैं। इससे दो लाभ होते हैं—

(१) रोटी फूल जाती है जिससे उसे कुचलने में सरलता का अनुभव होता है।

(२) रोटी फूल जाने से उसमें तमाम छेद हो जाते हैं अत: आमाशय में रोटी के टुकड़ों के भीतर रसों का पूर्ण रूपेण सम्पर्क हो सकता है जिससे वह जल्दी पच जाती है।

इस प्रकार से बनी रोटी का स्वाद सुधर जाता है जिससे अधिक खाने की इच्छा होती है।

[क्रमशः]

मछली के प्रोटीन का सत

● जार्ज के० पारमैन

अमेरिका के खाद्य एवं औषधि प्रशासन ने इस बात की स्वीकृति दी थी कि मत्स्य प्रोटीन सत (फिश प्रोटीन क्रान्सेण्ट्रेट, F. P. C.) जिसे संक्षेप में 'एफ० पी० सी०' कहते हैं मनुष्य द्वारा आहार के रूप में प्रयुक्त हो सकता है। उसी समय से भूखे विश्व के लिए प्रोटीन के एक महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में इसकी ओर लोगों का अधिकाधिक ध्यान आकृष्ट है। देखने में मत्स्य प्रोटीन सत बहुत आकर्षक नहीं। यह भूरे श्वेत रंग का एक गंधहीन पाउडर है और इसका स्वाद भी मछली जैसा नहीं होता। किन्तु पोषण-तत्व की दृष्टि से यह सही अर्थ में प्रोटीन पूरित होता है। इसमें लगभग ८० प्रतिशत उच्च कोटि का प्रोटीन और लगभग १४ प्रतिशत खनिज होते हैं, जिनमें कैल्शियम, और फास्फेट्स की पर्याप्त मात्रा और कुछ वसा के अतिरिक्त अंशत: नमी भी सम्मिलित होती है। यदि इसकी थोड़ी मात्रा को, जो प्राय: ५ प्रतिशत से कुछ ही अधिक होती है, किसी प्रोटीनमुक्त शाक-सब्जी में मिला दिया जाय, तो इस प्रकार मिश्रित पदार्थ में उत्कृष्ट प्रोटीन मिश्रण का संचार हो जाता है, क्योंकि मछली के प्रोटीन के कारण अतिरिक्त एमिनो-एसिड उपलब्ध हो जाता है जो भोजन को सन्तुलित बना देता है।

मत्स्य प्रोटीन सत सम्भाव्यता की दृष्टि से सबसे सस्ती किस्म का जैव प्रोटीन होता है, क्योंकि इसके उत्पादन में ऐसी मछलियों का प्रयोग होता है, जो खायी जा सकती हैं किन्तु इस समय खायी नहीं जाती है, और इसलिए सस्ती होती हैं। यदि इसका उत्पादन बड़े पैमाने पर हो, तो उसकी कीमत प्रति पौण्ड लगभग २० अमेरिकी सेण्ट (१.५० रुपये) या उससे भी कम पड़ेगी।

एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि मत्स्य प्रोटीन सत मानवीय आहार के एक स्रोत के रूप में विशाल महासागरीय साधनों के उपयोग की एक विधि सुलभ करता है। इस समय विश्व हर साल महासागरों से लगभग ५ से ६ करोड़ टन की मात्रा में खाद्य जीव-जन्तु निकाल रहा है। मत्स्य साधनों के विशेषज्ञों द्वारा लगाये गये रूढ़िगत अनुमानों के अनुसार, समुद्रों से इन खाद्य-पदार्थों को इसकी तीगुनी मात्रा में बराबर नियमित रूप से निकाला जा सकता है। इस समय ६ करोड़ टन का जो उत्पादन हो रहा है, वह भी इतना प्रोटीन उपलब्ध करता है, जो २ अरब से अधिक लोगों के लिए आवश्यक मात्रा में जैव प्रोटीन प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

मछलियों के सम्बन्ध में प्रमुख समस्या यह है कि वे बहुत शीघ्र सड़ने लगती हैं। अभी भी विश्व भर में सर्वत्र शीतानुकूलन की सुविधा उपलब्ध न होने से मछलियों का वितरण सीमित ही है। मछली सड़ांध को रोकने के लिए उसे सुखाने और नमक पोत कर रखने की विधि बहुत पुराने समय से चली आ रही है, किन्तु इस विधि में भी कुछ दोष हैं। उदाहरण के

लिए, सूखी मछली शिशुओं के आहार के लिए तत्कालोपयुक्त नहीं होती। फिर, बहुत सी मछलियाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं किन्तु वे इतनी छोटी होती हैं कि उन्हें साफ करना, संभालना और सुखाना कठिन होता है। सूखने पर उनमें से कई मछलियाँ खाने योग्य नहीं रह जातीं, क्योंकि उनमें अधिक तेल होता है, जो बहुत जल्द दुर्गन्ध देने लगता है।

इसके विपरीत, मत्स्य प्रोटीन सत असीमित समय तक सुरक्षित रहता है। उसे सार्डिन जैसी नन्हीं-नन्हीं मछलियों द्वारा भी तैयार किया जा सकता है। यही नहीं, उन्हें शोधित करके उनमें समाये तेल को निकाला जा सकता है।

मत्स्य प्रोटीन सत को कई तरह के आहारों में मिलाया जा सकता है। ऐसा करने से उनकी पोषण-क्षमता बढ़ जाती है और उनके स्वाद में भी विशेष अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुतः सार्डिन जैसी छोटी मछलियों से इस सत का उत्पादन अधिक वांछनीय है, क्योंकि समुद्रों में वजन की दृष्टि से वे सभी अन्य मछलियों की अपेक्षा अधिक मात्रा में पायी जाती हैं। वे सूर्य से निस्सृत ऊर्जा का उपयोग बहुत उपयुक्त रूप में करती हैं।

सूर्य की ७१ प्रतिशत शक्ति या ऊर्जा महासागरों के ऊपर पड़ती है। उसके कुछ अंश का प्रयोग 'फाइटोप्लैण्कटोन' नामक समुद्री पौधों के रूप में जैव तत्वों के सृजन में होता है। इन पौधों को 'जूप्लैंक्टोन' नामक नन्हें जन्तु खाते हैं और इन नन्हें जन्तुओं को सार्डिन मछलियाँ खाती हैं। प्रत्येक चरण में ऊर्जा के परिवर्तन की क्षमता शायद १० प्रतिशत होती है, किन्तु सौर ऊर्जा की मात्रा इतनी अधिक है कि सार्डिन के रूप में समाप्त होने वाली उसकी मात्रा भी बहुत अधिक है : हर साल महासागरों में सौर ऊर्जा द्वारा तैयार जैव पदार्थों की मात्रा १९ अरब टन होती है। यदि उसका शतांश भी मछलियों के रूप में परिणत हो सके, तो वह मात्रा भी निश्चय ही बहुत अधिक होगी।

मत्स्य प्रोटीन का इतिहास

मत्स्य प्रोटीन सत का विकास पिछले ६० वर्षों में हुआ है। सबसे पहले मत्स्य आहार—एक शुष्क पदार्थ, जिसे पशुओं को खिलाने के लिए तैयार किया जाता है—का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। किन्तु कई कारणों से यह मत्स्य आहार मनुष्यों को खिलाने की दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं माना जाता।

फिर ताजी मछलियों का प्रयोग करके उन्हें शोधित करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। मौण्टिसेलो, इलिनौय, के वायोबिन कारपोरेशन के श्री एजरा लेविन इस क्षेत्र में मार्ग-प्रदर्शक रहे। ब्यूरो औव् कमर्शियल फिशरीज एक श्रमसाध्य अनुसन्धान द्वारा तथा राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी की एक विशेषज्ञ समिति की सलाह से इस धारणा की स्थापना करने में समर्थ रहा कि पूर्ण मछली से तैयार मत्स्य प्रोटीन सत पूर्णतया निरापद, स्वादिष्ट और स्वास्थ्यवर्द्धक होता है। इसके विकास में कनाडा, स्वीडन और इंग्लैण्ड की वैज्ञानिक टोलियों ने भी उल्लेखनीय योग प्रदान किया है।

मछली से तैयार किया जाने वाला प्रोटीन का सत सस्ता होना चाहिए और इससे सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्न सामने आते हैं। यद्यपि लोग बहुत समय से मछली खाते आये हैं—जैसे, उदाहरण के तौर पर, सार्डिन मछली—फिर भी यह अनुभव किया गया कि सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्न की पूरी जाँच-पड़ताल करनी आवश्यक है। इसके लिए बड़ी जटिल प्रक्रियाएँ प्रयोग में लाई गईं।

विषैलेपन का पता लगाने के लिए एक नई विधि काम में लाई गई। इस विधि में विशेष रूप से शुद्ध किया गया एक ऐसा रासायनिक द्रव्य उपयोग में लाना पड़ा जिस पर प्रति गैलन लगभग ७,००० डालर लागत आती है। सम्भाव्य विषैले तत्व का पूरी तरह पता लगाने के लिए सावधानतापूर्वक विश्लेषण किये गये। जाँच-पड़ताल से पता चला कि उसमें तनिक भी विषैले तत्व नहीं हैं।

एक रोचक बात यह है कि इस छानबीन से यह भी पता चला कि मछलियाँ ऐसी जानवर हैं जिनके अन्दर कीटाणु पैदा नहीं होते। गरम खून वाले जानवरों की तरह, भोजन पचाने में मदद देने के लिए उनके पेट या अंतड़ियों में बड़ी संख्या में जीवाणु नहीं होते। वे भोजन पचाने का कार्य बहुत शक्तिशाली पाचक रसों (एन्जाइम) द्वारा करती हैं। मछली के प्रोटीन का सत तैयार करने से पहले जब नमूने के तौर पर कुछ मछलियों की परीक्षा की गई तो उनमें उससे भी बहुत कम कीटाणु पाये गये जितने कि दूध में होते हैं। बाद में विधायन के परिणामस्वरूप कीटाणुओं की यह संख्या भी बहुत कम हो गई। इसके फलस्वरूप, फरवरी १९६७ में अमेरिका के खाद्य एवं औषध प्रशासन ने 'वायोबिन कार्पोरेशन' और 'ब्यूरो औव् कर्मशियल फिशरीज' द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली विधि द्वारा ताजी हेक मछली से प्रोटीन का सत तैयार करने की अनुमति दे दी।

प्रोटीन सत तैयार करने की विधि

मछली से प्रोटीन का सत तैयार करने की विधि बहुत सरल है। पहले ताजी मछली को कुचला जाता है, फिर उपयुक्त घोलों के जरिये उससे पानी और चर्बी को अलग कर लिया जाता है। उसमें घोल का कोई अंश नहीं रहने दिया जाता। इसके बाद शुष्क पदार्थ को पीस कर उसकी परीक्षा की जाती है और उसे पैक कर दिया जाता है।

मछली के प्रोटीन के सत का और अधिक विकास करने के लिए कुछ अतिरिक्त अनुसन्धान की आवश्यकता होगी। इस बात का सावधानी से पता लगाना होगा कि प्रोटीन का सत तैयार करने के लिए कौन-कौन सी किस्म की मछलियाँ, विशेष रूप से उष्ण कटिबन्ध के समुद्रों में पाई जाने वाली कौन-कौन सी मछलियाँ, उपयुक्त हैं, और इस सम्बन्ध में बहुत सा कार्य खाद्य पदार्थ तैयार करने के तकनीकी पहलुओं से करना होगा।

हाट व्यवस्था की समस्या सबसे महत्वपूर्ण है। हमें इस बात का पता लगाना होगा कि मछली के प्रोटीन का सत कहाँ उपयोगी हो सकता है, और यह जानना होगा कि उपलब्ध खाद्य-पदार्थों के साथ इसका कैसे उपयोग किया जा सकता है, लोगों में इसका उपयोग करने का विचार कैसे फैलाया जा सकता है, उपभोक्ताओं को यह कैसे बतलाया जा सकता है कि इससे उन्हें और उनके बच्चों को क्या लाभ हो सकता है, और इसकी बिक्री की व्यवस्था कैसे की जा सकती है।

नैतिक मूल्यों पर विज्ञान का प्रभाव

● रामचरण मेहरोत्रा तथा राम अचल मिश्र

विश्व की ऐसी कोई महान पुस्तक या कला कृति नहीं है जिसे पुराने दकियानूसों ने अनैतिक न बताया हो। चाहे वह शरत् बाबू का 'चरित्रहीन' हो या कवि शैली की पद्य-रचनायें, दोनों को ही कभी अनैतिक समझा गया था। समय के साथ-साथ विचारों में परिवर्तन आया, फलतः वही कृतियाँ बाद में प्रशंसित हुई। परन्तु विज्ञान के बारे में आज भी पुरानी धारणायें बनी हुई हैं।

विज्ञान चाहे जो भी हो परन्तु इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि विज्ञान सत्य और ज्ञान पर टिका है। नैतिकता की सभी पद्धतियाँ इन्हीं दोनों को अपना आदर्श मानती हैं। ऐसी दशा में यह समझ में नहीं आता कि लोग विज्ञान को अनैतिक क्यों कहते हैं।

मानवीय गुणों एवं विज्ञान के आदर्शों में कितनी समानता है वह इस बात से ज्ञात होती है कि दोनों ही पूर्णता की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं। यही मानव

धर्म का महान सिद्धान्त है और इसको विज्ञान आदर्शों का स्वरूप भी प्रदान किया गया है।

विज्ञान के महान् नैतिक मूल्य उसकी अपूर्णता की भावना में ही निहित है। हर बार विज्ञान का विद्यार्थी महान न्यूटन की भाँति सोचने पर बाध्य हो जाता है कि अभी वह ज्ञान रूपी अथाह सागर के तट पर ही खड़ा हो पाया है। वैज्ञानिक सदैव जिज्ञासु बना रहता है। उसे अपने मापों की शुद्धता या अशुद्धता का अनुमान रहता है। मानवीय ज्ञान के विकास में उसकी वास्तविक देन, उसका व्यक्तिगत निरीक्षण या परिमापन नहीं वरन् बिखरे आँकड़ों को परस्पर सम्बन्ध करना, उन्हें क्रम देना और उनसे नियम प्रतिपादन करना है। इन प्रतिपादित नियमों को वह बराबर आदर देता है। परन्तु इनके मानने में वह निर्विवाद आज्ञाकारिता नहीं दिखाता। जब कभी उसे यह प्रतीत होता है कि उसके द्वारा अवलोकित नवीन तथ्य पूर्व प्रतिपादित परिकल्पना में ठीक नहीं बैठ रहे हैं तो वह अपने उन पुराने सिद्धांतों को सुधारने या अमान्य करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता।

मत-भेदों के होते हुए भी वैज्ञानिक अपने पहले के कार्यकर्ताओं, जिनके सिद्धान्तों को उसने सुधारा या असिद्ध कर दिया है, बड़ा आदर देता है। आइन्स्टीन ने यद्यपि न्यूटन के गति सम्बन्धी सिद्धान्तों को मूलतः परिवर्तित कर दिया, फिर भी आजकल न्यूटन की प्रतिष्ठा वैसी ही है। आइन्स्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त में भी आज का वैज्ञानिक सन्देह प्रगट करने लगता है लेकिन इससे आइन्स्टीन का महत्व किसी तरह कम तो नहीं हुआ।

विज्ञान की महानता विचारों की स्वतन्त्रता, तथा उनकी मौलिकता और मतभेद में ही निहित है। विज्ञान में व्यक्ति भेद का कोई महत्व नहीं है। विज्ञान के इन्हीं गुणों से प्रेरित होकर मनुष्य उदार बन गया है। आज हम बालकों के रेखाचित्रों को मौलिकता और फूलों के सजाने के ढंग को आविष्कार तक की संज्ञा दे देते हैं।

विचारों एवं मतभेद की स्वतन्त्रता आज राष्ट्रों की प्रगति की कसौटी बन गये हैं। आज मस्तिष्क की मौलिकता एवं स्वतन्त्रता पर ऊँचे पुरस्कार भी रखे गये हैं। बारिस पास्तरनेक और मार्टिन लुथर किंग इन्हीं गुणों के नाते पुरस्कृत हुए। वैज्ञानिकों का समाज एक कुशल प्रजातन्त्र है जहाँ मतभेद और समादर दोनों का पवित्र संगम है।

विज्ञान और उसके मतभेद की प्रवृत्ति को प्रायः इस बात का दोषी ठहराया गया है कि वह पुराने तथा नये वर्ग में, पिछले और आने वाली पीढ़ी के बीच विद्रोह की भावना पैदा करता है। पर वास्तविकता यह नहीं है। वैज्ञानिक भी इतर मनुष्य की भाँति भूल कर सकता है पर वह उसे स्वभाववश बिना किसी पीड़ा या आवेग के सुधार लेता है।

विज्ञान की पद्धति में पिछली पीढ़ी की भूलें और कमियाँ ही अगली पीढ़ी द्वारा स्वीकृत यथार्थताओं तथा सिद्धान्तों का मार्ग प्रदर्शन करती हैं। वास्तव में विज्ञान का महान शिक्षक अपने विद्यार्थियों को बारम्बार यही समझाता है कि समस्त ज्ञान अपूर्ण है और इसी अपूर्णता में भविष्य की प्रगति निहित है।

विज्ञान ने मानव समाज को जिस विश्वबन्धुता की भावना से भरा है उसका अन्तर्राष्ट्रीय रूप कई बार सामने आया है। नेपोलियन द्वारा स्थापित संस्थापक के रोष तथा १८०७ के एंग्लो-फ्रेन्च युद्ध के बावजूद ब्रिटेन निवासी हम्फ्री डेवी को प्रथम पुरस्कार दिया। वैज्ञानिकों में पारस्परिक प्रेम और आदर की भावना द्वितीय विश्व-युद्ध में अधिक स्पष्ट रूप से प्रगट हुई जबकि नाजियों द्वारा सताये गये अपने साथियों का संसार के हर भाग के वैज्ञानिकों ने हार्दिक स्वागत किया।

दल में कार्य करने की प्रवृत्ति द्वारा तथा पारस्परिक विनियम के गुण आज के अनुसन्धान के विशिष्ट अंग बन गये हैं। भाग्यवश 'जियोफिजिकल वर्ष' और 'समुद्री-अध्ययन' जैसी नई योजनायें अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता एवं सहानुभूति के साथ पूरी की जा रही हैं। 'परमाणु शक्ति' और 'एस्ट्रोनाटिक्स' जैसे क्षेत्रों में भी, जो कि वैज्ञानिक प्रगति के ऊँचे स्वरूप हैं, उसी सहकारिता

तथा उत्साह की भावना अंकुरित होती सी प्रतीत होती है।

विज्ञान के जीव-रासायनिक (बायोकेमिकल) क्षेत्र की चमत्कारिक उन्नति ने हमारे नैतिक मूल्यों पर विशेष प्रभाव डाला है। आज का वैज्ञानिक जानता है कि प्रत्येक विकृत विचार के पीछे विकृत अणु अवस्थित है। इस दृष्टिकोण से हम अपराध की भावना को सहिष्णुता की दृष्टि से देखते हैं। विशिष्ट औषधियों के प्रयोग द्वारा समाज को सदाचार सिखाने की सम्भावनायें अब दूर नहीं हैं। समाज को पूरी आशा है कि वैज्ञानिक विचारों की उत्तरोत्तर प्रगति द्वारा तर्कसंगत मानवीय आदर्श यथेष्ट रूप में इतने उठ सकेंगे कि हम विज्ञान प्रदत्त शक्तियों का दुरुपयोग संहार के लिये नहीं करेंगे।

हिंशेलवुड का स्वर्गवास

नोबेल पुरस्कार विजेता सुप्रसिद्ध रसायनज्ञ सर सिरिल हिंशेलवुड का देहान्त १२ अक्टूबर १९६७ को हो गया। इन्हें १९५६ में रसायन पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

चन्द्रमा का रंग

चाहे कवि या संगीतकार जो भी कहें, मगर चन्द्रमा का रंग भूरा ही है। अमेरिकी वैज्ञानिकों ने यह जानकारी उन ५० रंगीन चित्रों के आधार पर दी है, जो सर्वेयर-३ नामक अन्तरिक्ष-यान द्वारा भेजे गये हैं। अमेरिकी भूतत्व सर्वेक्षण विभाग के डा० यूजीन शूमेकर ने कहा यह भूरा रंग पीले से लेकर गहरे भूरे रंग तक कई प्रकार का है किन्तु मूलतः यह भूरे रंग का ही है।

इन चित्रों को प्राप्त करने के लिए जेट प्रोपल्शन लैबोरेटरी (कैलिफोर्निया इन्स्टिट्यूट ऑव टैक्नोलोजी) ने लाल, हरे और नीले रंग के पहियों का प्रयोग इस प्रकार किया, ताकि वे सर्वेयर पर रखे गये टैलिविजन के सामने उस समय बारी-बारी से आते रहें, जब वह चन्द्र तल के चित्र खींच रहा हो।

यह घटना ५० बार दुहराई गयी। इस प्रकार खींचे गये चित्र रेडियो-संकेतों द्वारा जेट प्रोपल्शन लैबोरेटरी में भेजे गये, जहाँ उन्हें काली और श्वेत रंग की ट्रांसपेरेन्सियों में परिणत कर दिया गया। फिर ३ चित्रों के प्रत्येक सेट को लाल, हरे और नीले फिल्टरों वाले अन्य प्रोजेक्टरों पर चढ़ाया गया, और एक ही पर्दे पर प्रक्षिप्त किया गया। इससे एक पुनः निर्मित रंगीन चित्र तैयार हुआ, जो डा० शूमेकर के अनुसार चन्द्रतल के असली रंग से लगभग मिलता-जुलता है।

डा० शूमेकर ने कहा कि यह बात पूर्णतया स्पष्ट नहीं कि चन्द्रमा का रंग भूरा क्यों है। हो सकता है कि हवा और नमी के अभाव के कारण ऐसा हो। उन्होंने बताया कि पृथ्वी पर हवा और नमी के कारण खनिज तत्वों का बराबर ऑक्सीकरण होता रहता है, जिससे अधिक चमकीले रंग उत्पन्न होते रहते हैं।

सर्वेयर-३ से प्राप्त अन्य आंकड़ों से संकेत मिलता है कि चन्द्रतल का स्वरूप समानव अवतरण के लिए बाधक प्रतीत नहीं होता डा० स्काट ने कहा कि चन्द्रतल भीगी रेत जैसा समतल है और इसके प्रति इंच क्षेत्र में ३ से ८ पौण्ड का भार वहन करने की क्षमता है। डा० स्काट के अनुसार, अपोलो यान के ३० हजार पौन्ड वजनी चान्द्रमोड्यूल के अवतरण के लिये इतनी मजबूती पर्याप्त है। उस पर एक चान्द्रयात्री आसानी से इधर-उधर घूम सकता है। अधिक से अधिक यही होगा कि चन्द्रमा की सतह पर वह अपने पैरों की छाप छोड़ आयेगा।

मनुष्य की बोली बोलने वाली मशीनें

बातचीत या बोली उन क्रियाकलापों में एक है, जिनमें अभी भी मशीनें मनुष्य की समता नहीं कर सकतीं। किन्तु विज्ञान और प्रौद्योग के तीव्र विकास के फलस्वरूप वह दिन शीघ्र आ सकता है जब मशीनें मनुष्य की तरह ही अथवा उससे अधिक अच्छी तरह बोल सकें। निम्नलिखित तीन क्षेत्रों में आश्चर्यजनक विकास हुए हैं। (१) 'बोलने वाली मशीनों' द्वारा कृत्रिम बोली का निर्माण; (२) बिना किसी बाधा के रिकार्डों को तेजी से बजाने के लिए मनुष्य की बोली को दबाना; और (३) रोगियों की बोली के रिकार्डों से कुछ उन्मादी रोगों का निदान।

अमेरिका में एक ऐसी मशीन की धारणा विद्यमान है, जो सही-सही कृत्रिम बोली उत्पन्न कर सकती है।

अभी इस विधि द्वारा केवल व्यक्तिगत ध्वनियाँ ही उत्पन्न हो सकती हैं किन्तु वैज्ञानिक इसे इस प्रकार सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं, ताकि उसके द्वारा सारे वर्ण, शब्द और अन्ततः वाक्यों का निर्माण हो सके। इस प्रकार की बोलने वाली मशीनों के अद्भुत प्रयोग सम्भव हैं।

उदाहरण के लिए, किसी गणक-यन्त्र से संयुक्त कर देने पर वे गणक-यन्त्र द्वारा संग्रहीत सूचनाओं को पढ़ सकेंगी। इस प्रकार, गणक-यन्त्रों का प्रयोग सामान्य लोग प्रत्यक्ष रूप से करने लगेंगे। इस समय गणक-यन्त्रों के विशेषज्ञों को गणक-भाषा के प्रतीकों के सूचनाओं का अनुवाद करना पड़ता है अथवा सूचनाओं को प्रतीकों में परिवर्तित करना पड़ता है, हालांकि कुछ ऐसे भी गणक-यन्त्र हैं, जो टेपों पर अंकित सही शब्दों को चुनकर कुछ इने-गिने उत्तर दे सकते हैं।

नई विधि पर हाल में एकाउस्टिक सोसायटी औव् अमेरिका की एक बैठक में डा० सेसिल एच० कोकर ने विस्तार से प्रकाश डाला। डा० कोकर मुरेहिल (न्यूजर्सी) में बेल टेलीफोन लैबोरेटरीज़ से सम्बद्ध हैं।

जब कोई अनुसन्धानकर्ता इन आधारभूत ध्वनियों में से किसी एक को उत्पन्न करना चाहता है, तो वह गणक-यन्त्र को चालू कर सकता है। स्वर-पथ का एक नक्शा अपने-आप गणक-यन्त्र से सम्बद्ध टैलिविजन-पटल पर प्रकट हो जाता है। नक्शे में उस विशेष ध्वनि के लिए बोलने वाले अंगों की स्थिति दिखलायी पड़ती है।

पटल पर विन्दुवत रेखा द्वारा ओठों, जिह्वा के सिरे और वक्राकार भाग, कण्ठ तथा निचले जबड़े के स्थान प्रदर्शित होते हैं। जिस समय अनुसन्धानकर्ता इस रूपरेखा को देख रहा होता है, ठीक उसी समय वह तदनुरूप स्वर को एक बोली उत्पन्न करने वाले यन्त्र से निकलते हुए सुनता है। यह यन्त्र गणक-यन्त्र के संकेतों को ध्वनियों में बदल देता है। अनुसन्धानकर्ता घुण्डियाँ दबा कर पटल पर रेखाचित्र के स्वरूप को परिवर्तित कर सकता है और तत्काल नई स्थितियों के अनुरूप नये स्वर सुन सकता है।

बोली के सम्बन्ध में हाल में एक अन्य प्रगति भी हुई है, जिसके अन्तर्गत अमेरिका में 'बोली को दबाने' के लिए एक विधि का प्रदर्शन किया गया। इस विधि द्वारा किसी सम्भाषण के रिकार्डों को सामान्य बोली से कई गुनी तीव्र गति के साथ बजाया जाता है, फिर भी सम्भाषण में किसी तरह की विच्छिन्नता उत्पन्न नहीं होती। साधारण तौर पर, किसी सम्भाषण के रिकार्ड को पुनः बजाने पर उसका स्वर ऊँचा हो जाता है, और तथाकथित 'डोनाल्ड डक प्रभाव' उत्पन्न हो जाता है। इससे ध्वनि विच्छिन्न हो जाती है, और आवाज बतख की बोली जैसी हो जाती है, जिसे समझना कठिन होता है।

नये यन्त्र द्वारा बोली को दबाने से क्षण-मात्र में रिकार्ड पर अंकित भाषण को सही-सही सुनना सम्भव हो जाता है। इस यंत्र को 'इन्फार्मेशन रेट चेंजर' कहते हैं।

सम्भाषण सम्बन्धी एक अन्य क्षेत्र में, अमेरिकी सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग ने घोषणा की कि वह एक गणक यन्त्र प्रणाली विकसित कर रहा है, जो जीवन के प्रारम्भ में ही उन्मादी रोगों से पीड़ित व्यक्तियों में बोली के अश्रव्य परिवर्तनों का पता लगा सकता है। इस योजना के सम्बन्ध में क्लीबलैण्ड, ओहायो, के वेस्टर्न रिजर्व विश्वविद्यालय के श्रवण एवं सम्भाषण केन्द्र में अमेरिकी स्वास्थ्य विभाग के संक्रामक रोग नियन्त्रण केन्द्र की ओर से कार्य हो रहा है। ३ वर्ष में पूर्ण हो जाने पर इस विधि का प्रयोग रोगों का पता लगाने सम्बन्धी विशाल कार्यक्रमों में होने लगेगा। जिन व्यक्तियों के शरीर का परीक्षण किया जायेगा, उनकी बोली को एक टेप पर अंकित कर लिया जायेगा। इस टेप को एक गणक यन्त्र में भर दिया जायेगा जो सम्भाषण का विश्लेषण करेगा, और १० सेकण्ड में निदान के परिणाम प्रस्तुत कर देगा। यह इसलिए सम्भव है कि कुछ उन्मादी रोग सम्भाषण की गति, दबाव और

अन्य विशेषताओं में परिवर्तन कर देते हैं। किन्तु ये परिवर्तन शुरू में इतने छोटे होते हैं कि इनका पता लगाना गणक-विश्लेषण के अलावा अन्यथा कठिन होता है।

क्या वृद्धावस्था को रोका जा सकता है—अथवा विलम्बित किया जा सकता है ?

वृद्धपन एक ऐसी क्रिया है जो जन्म के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है।

किन्तु वृद्धावस्था में पायी जाने वाली शिथिलता अवश्यम्भावी नहीं है, दुर्घटनाओं से बचाव करके और जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में स्वास्थ्य का ध्यान रख कर वृद्धावस्था में होने वाली शिथिलता को बड़ी हद तक रोका जा सकता है और वृद्धपन, जो अधेड़ आयु के अनेक लोगों के विनाश का कारण होता है, किसी दिन भूतकाल की वस्तु बन सकता है।

धीमी गति के पश्चात्, अब चिकित्सा द्वारा वृद्धपन पर तेजी के साथ काबू पाया जा रहा है। तकनीकी विज्ञान की दृष्टि से कुछ उन्नत देशों में आजकल के बच्चे और भारी संख्या में उनके माता-पिता सम्भवत: ८० वर्ष से लगाकर ९० वर्ष की आयु तक, वर्तमान आयु की तुलना में १० वर्ष अधिक, जीवित रहने की आशा कर सकेंगे।

अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन तथा अमेरिकन जेरियाट्रिक्स सोसायटी के भूतपूर्व अध्यक्ष डा० एडवर्ड बोर्ज का कथन है कि शीघ्र ही वह समय आने वाला है जब मनुष्य विश्वास के साथ १०० वर्षों तक जीवित रहने की आशा कर सकेगा।

बुढ़ापा सम्बन्धी व्याधियों के अनेक चिकित्सा-विशेषज्ञ यह अनुभव करते हैं कि चिकित्सा-विज्ञान पहले ही ऐसी विधि उपलब्ध कर चुका है जिसके द्वारा मनुष्य १०० वर्ष की आयु तक जीवित रह सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अधिक लोगों का १०० वर्ष की आयु तक जीवित न रह सकने का कारण यह है कि वे उचित आहार, व्यायाम, विश्राम और मनोरंजन के सिद्धान्तों का पालन करने को उद्यत नहीं हैं। इनमें नशीले द्रव्य, चंचलता घटाने वाली औषधियाँ और अन्य असंयम भी सम्मिलित हैं।

हाल में मालूम किये गये तथ्यों से यह पता चलता है कि अत्यधिक वृद्धावस्था में भी मनुष्य अपनी शक्ति बनाये रख सकता है। जिस प्रकार बुढ़ापे के कारण किसी की मृत्यु नहीं होती है, उसी प्रकार केवल बुढ़ापे की प्रक्रिया के कारण अचानक किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आ जाती है।

किसी समय यह कहा जाता था कि बड़ी आयु के कारण शरीर में दुर्बलता आ जाती है, किन्तु इसका वास्तविक कारण रोग होते हैं। उदाहरण के रूप में बहुत पहले यह समझा जाता था कि रक्त-धमनियों के कड़ा हो जाने के कारण वृद्धावस्था आ जाती है। किन्तु अब यह पता लगा लिया गया है कि यह एक ऐसा रोग है जो शरीर की रासायनिक क्रिया में असन्तुलन हो जाने के कारण उत्पन्न होता है।

इस सबका यह अर्थ नहीं है कि इस रोग का उपचार करने पर मनुष्य वृद्धावस्था में भी युवक जैसा शरीर बनाये रख सकेगा। प्रत्येक शरीर पर बीते हुए वर्षों और क्षय के चिन्ह दिखायी पड़ जाते हैं।

यदि वृद्धावस्था के लिए कोई एक ही क्रिया उत्तरदायी है, तो अभी तक विज्ञान यह पता नहीं लगा सका है कि वह क्रिया क्या है। नि:सन्देह वंश परम्परागत गुण इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति विरासत में चयापचय क्रिया प्राप्त करता है। किन्तु वातावरण का भी चयापचय पर प्रभाव पड़ता है।

उदाहरण के रूप में, परीक्षणों से पता चलता है कि प्रयोगशाला के शीतल तापमान में रखे गये चूहे उन चूहों की तुलना में अधिक समय तक जीवित रहे, जिन्हें कमरे के तापमान में रखा गया था। इसका कारण यह था कि कमरे के तापमान में रखे गये चूहों की चयापचय क्रिया धीमी पड़ गयी थी। इसी कारण से यह परिणाम आधे पेट भूखे चूहों पर दिखाई पड़ते हैं।

किसी प्राणी द्वारा प्राप्त किये जाने वाले प्रकाश की मात्रा भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। अधिक प्रकाश दिये जाने पर कुछ पौधों के सूक्ष्म कोष नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में उनकी चयापचय क्रिया बढ़ जाती है।

अभी तक यह पता नहीं लगा है कि क्या यह बात मनुष्यों पर भी लागू होती है। किन्तु सूर्य के प्रकाश का त्वचा पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। वह त्वचा को शुष्क बना देता है और उसमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं।

निश्चय ही वृद्धावस्था की रोक-थाम करना अधिक अच्छा है। चाहे उसका कारण अधिक वर्षों की आयु हो अथवा उसका कारण रोग या कोई क्षति हो। वृद्धावस्था लाने वाले रोगों जैसे प्राकृतिक कारणों की गति को धीमा किया जा सकता है। किन्तु इसके लिए अपनी प्रतिदिन की दिनचर्या पर ध्यान रखने की आवश्यकता है।

उदाहरण के रूप में, आहार अत्यावश्यक है, किन्तु आवश्यकता से अधिक भोजन करना हानिप्रद हो सकता है।

इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण मौजूद हैं कि थोड़ी भूख रख कर आहार करना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक हो सकता है। परीक्षणों से यह पता चला है कि प्रयोगशाला में कम आहार पर रखे गये चूहे उन चूहों की तुलना में अधिक समय तक जीवित रहते हैं, जिन्हें अधिक आहार खिलाया जाता है।

अतिरिक्त चरबी ऐसा अतिरिक्त भार है जिसके लिए रक्त का उपलब्ध होना आवश्यक है। इसका यह अर्थ है कि शरीर को अपनी रक्त-धमनियों का विस्तार करना पड़ता है और हृदय को अधिक दूरी तक अतिरिक्त रक्त पहुँचाने के लिए अधिक कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार, शरीर के अधिक भारी होने के कारण हृदय-रोग हो जाते हैं।

इसके अलावा, ठीक मात्रा में आहार लिया जाना चाहिए और वह अच्छी किस्म का भी होना चाहिए। यह आहार सन्तुलित होना चाहिए अन्यथा शरीर को वे पदार्थ नहीं मिलेंगे जो सामान्य कार्यों को करने के लिए आवश्यक हैं।

वृद्धावस्था में स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए दूसरी मूलभूत आवश्यकता कार्य-व्यस्त रहना है। एक सप्ताह तक बिस्तर में रहने से अत्यन्त बलिष्ठ मनुष्य भी दुर्बल हो जायेगा। परिश्रम किये बिना शरीर क्षीण हो जायेगा और ऐसा व्यक्ति धीरे-धीरे बुढ़ापे की ओर अग्रसर होता रहता है।

निःसन्देह अधिक परिश्रम करने से भी शरीर को हानि पहुँच सकती है। शरीर द्वारा परिश्रम करने के साथ-साथ विश्राम करने की भी आवश्यकता है।

शानदार वृद्धावस्था को प्राप्त होने के लिए एक अन्य महत्वपूर्ण आवश्यकता 'सक्रिय मस्तिष्क' है।

मस्तिष्क का शारीरिक व्याधियों से बड़ा सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में हार्टफोर्ड, कनैटिकट, स्थित इन्स्टिट्यूट औव लिविंग के मानसिक रोगों के मुख्य चिकित्सक तथा अमेरिकन मैडिकल एसोसियेशन की मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी परिषद् के भूतपूर्व सदस्य डा० फ्रांसिस जे० बेसलैण्ड का कथन है कि भावनात्मक दबाव स्वयं रक्त प्रवाह की प्रणाली को भंग होने में योग देता है।

किन्तु सम्भवतः वृद्धावस्था से सम्बन्धित सबसे बड़ा खतरा जीवन का अन्त हो जाना नहीं है, बल्कि सबसे बड़ा खतरा मानसिक क्षय है, जो शैथिल्य के नाम से प्रसिद्ध है।

वृद्धावस्था में मस्तिष्क के कोषों के निष्क्रिय हो जाने से मस्तिष्क की गतिविधियों में कुछ कमी अवश्य हो जाती है। किन्तु मस्तिष्क की गतिविधियाँ घट जाने से सामान्यतः मस्तिष्क में संचित ज्ञान नष्ट नहीं हो जाता है अथवा विवेक कम नहीं हो जाता है। न ही बुद्धि का निरन्तर ह्रास होता जाता है।

दीर्घायु पाने और वृद्धावस्था में मस्तिष्क को स्वस्थ रखने के लिए यह बात समझना अत्यावश्यक है कि सभी मनुष्य वृद्धावस्था को प्राप्त होते हैं और अधिकांश दशाओं में वे इस सम्बन्ध में कुछ कर सकते हैं। चिकित्सा-विज्ञान स्वस्थ, दीर्घायु के लिए फार्मूला उपलब्ध करता रहता है। किन्तु, अक्सर वृद्ध लोगों का स्वास्थ्य वैसा ही हो जाता है जैसा कि वे उसे बनाना चाहते हैं।

गन्दे पानी से पशुओं का चारा

लखनऊ-स्थित राष्ट्रीय वनस्पति-उद्यान के अनुसन्धानकर्ता ऐसी विधियाँ खोजने में जुटे हुए हैं जिन्हें अपना कर नालियों के मैले व गन्दे पानी से पशुओं के लिए चारा तैयार किया जा सके। अमेरिकी सरकार ने इस अनुसन्धान-कार्य के लिए ४५२,००० रु० का अनुदान दिया है।

अपर्याप्त रूप में नियन्त्रित मैला व नालियों का पानी स्वास्थ्य के लिए खतरनाक है तथापि नालियों के मैले का अच्छा उपयोग लिया जा सकता है। उनमें पौधों के लिए खाद होती है जिससे अनुकूल परिस्थितियों में अल्गा उगाई जा सकती है।

अल्गा पानी में पैदा होने वाले जान्विक तत्व होते हैं जैसे तालाब की काई। उनमें उच्च कोटि की प्रोटीन होती है। लखनऊ की योजना द्वारा ऐसी विधियों और उपकरणों का विकास किया जायेगा, जिनके जरिये नालियों के मैले से अल्गा घास तैयार की जा सके, उसे काटा जा सके और मवेशियों को खिलाया जा सके।

यदि योजना सफल हुई तो उसके दो सफल परिणाम होंगे: नालियों के मैले का बड़े पैमाने पर बेहतर उपयोग किया जा सकेगा और अनावृष्टि के बावजूद पशुओं को निरन्तर चारा दिया जा सकेगा।

दिल्ली विश्वविद्यालय में वनस्पति-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा० वी० पी० सिंह (जो कि लखनऊ में राष्ट्रीय वनस्पति-उद्यान में अतिथि वैज्ञानिक हैं) ५ वर्षीय अनुसन्धान-योजना का निर्देशन करेंगे।

मिट्टी की जाँच से पैदावार में वृद्धि

खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए केरल के बहुत से किसान अब एक आधुनिक तरीका अपना रहे हैं—यह तरीका है मिट्टी की जाँच का। ११ साल पहले बहुत से किसानों को इस विधि का पता तक न था।

केरल के किसान अब अपने खेत की मिट्टी के पोषक तत्वों और उसकी कमियों के बारे में जानने के लिए मिट्टी के नमूने मिट्टी की जाँच करने वाली निकटवर्ती प्रयोगशाला में भेज देते हैं। तब विशेषज्ञ की सलाह पर, वे यह निश्चय करते हैं कि प्रत्येक फसल के लिए किस किस्म की और कितनी मात्रा में रासायनिक खाद चाहिए।

इस विधि को अपनाने से हाल में पड़ताल किये गये एक क्षेत्र में अनाज की पैदावार में ५० प्रतिशत की वृद्धि हो गई।

केरल में मिट्टी की जाँच करने वाली पहली प्रयोगशाला की स्थापना १९५६ में त्रिवेन्द्रम् के निकट वेल्लायिनी के कृषि कालेज में की गई थी। उस प्रयोगशाला का सब सामान, जिसमें विद्युदणु-यन्त्र और मिट्टी के नमूने एकत्र करने वाली एक भी शामिल है, 'टैक्निकल सहयोग मिशन' (जिसका नाम अब 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी' है) के जरिये अमेरिकी सरकार ने दिया था। तब देश के विभिन्न भागों में अमेरिकी सरकार की सहायता से मिट्टी की जांच करने वाली १४ प्रयोगशालाएँ स्थापित की गई थीं। भारत में उनसे पहले ऐसी कोई प्रयोगशाला नहीं थी।

दिल्ली में आयोजित वैज्ञानिकों के सम्मेलन में प्रधान मन्त्री ने देश के वैज्ञानिक उत्थान का विहंगावलोकन करते हुए चिन्ता प्रकट की है और दो प्रमुख तत्वों का अंगुल्यानिर्देश किया है—एक तो किसी प्रकार की विशिष्ट वैज्ञानिक प्रगति का अभाव, दूसरे कृषि के क्षेत्र में ढिलाई।

प्रधानमन्त्री का कथन है कि बाहर के लोग जब यह पूछते हैं कि राष्ट्रीय अनुसंधानशालायें स्थापित करने के पश्चात् भारत ने क्या वैज्ञानिक प्रगति की तो लज्जा से उनका माथा झुक जाता है। यही हाल कृषि सम्बन्धी अन्वेषणों का है। आज तक जो भी अन्वेषण हुये हैं उनका न तो औद्योगिक क्षेत्र में, न ही कृषि क्षेत्र में व्यवहार हुआ है। वस्तुतः हमारे देश के वैज्ञानिक अन्वेषण का व्यवहारिक पक्ष शून्य है।

किसी भी प्रगतिशील राष्ट्र के लिये यह घोर लज्जा एवं असन्तोष का विषय है। विपुल धनराशि व्यय करने पर भी वैज्ञानिक अन्वेषणों का पूरा-पूरा लाभ न उठाया जावे, यह चिन्तनीय है। अन्वेषण के लिये अन्वेषण सर्वथा त्याज्य है। भले ही ऐसे अन्वेषणों से आज के वैज्ञानिकों का आर्थिक लाभ सध जाय, किन्तु इससे राष्ट्र का अहित हो रहा है। यह उनकी आत्मप्रवंचना नहीं तो क्या है? देश भूखों मरे अथवा औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा रहे, यह तो लक्ष्य नहीं है! अतः जनता को खुले स्वर से ऐसे वैज्ञानिकों एवं उनके अन्वेषणों का विरोध करना चाहिए।

किन्तु क्या मात्र वैज्ञानिकों पर दोषारोपण करने से जनता के कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है। वास्तव में ध्यान से देखा जाय तो वर्तमान परिस्थिति को उत्पन्न करने के लिये जनता उत्तरदायी है। वह मूक बनी रहना चाहती है, वह अकर्मण्य बनी रहना चाहती है, वह मात्र दर्शक बनी रहना चाहती है। न तो उसके समक्ष समस्यायें हैं, न ही उनके लिये वैज्ञानिकों को प्रेरित करने की भावना ही। उद्योगपति अपना पैसा बचाने की दृष्टि से औद्योगिक समस्याओं से वैज्ञानिकों को परिचित नहीं कराना चाहते। किसान केवल पेट भरने के लिये अन्न उत्पादन करके सन्तुष्ट हैं। न उन्हें अधिक अन्नोत्पादन की नूतनतम विधियाँ चाहिए न ही उन्हें उनको व्यवहार में लाने की कोई इच्छा है। वे किसी प्रकार की पूँजी के लगाये बिना ही अधिकतम लाभ चाहते हैं।

राजनीतिज्ञों का कहना ही क्या। वे भाषण-प्रिय हैं। उन्हें युद्ध जीतने के लिये शस्त्रास्त्र चाहिए।

ऐसी परिस्थितियों में देश के वैज्ञानिक ह्रास के कलंक का टीका वैज्ञानिकों के ही सिर पर लगाना ठीक नहीं। सारे देश को सचेष्ट एवं सजग होना होगा। बिना समस्याओं के वैज्ञानिक अन्वेषण शास्त्रीय स्तर के ही होंगे, व्यावहारिक नहीं।

● जय हिन्दी ● जय नागरी ●

अक्टूबर १९६७ विज्ञान पंजीकृत संख्या एल—१७५९

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्रप्रदेश के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूलों, कालिजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

विषय-सूची

प्रकाशक—डा० हीरा लाल निगम, प्रधान मन्त्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

मुद्रक—सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद।